जैनेन्द्र
के उपन्यासों
का मनोवैज्ञानिक
अध्ययन

देंगे, पर उनसे इस प्रश्न के पहलू पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ सकता।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दी जाय तो भी हम पाते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर युग के अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों का स्वरूप-विधान इसी शैली में हुआ है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्र लेख', 'पर्दे की रानी', 'उल्का', 'मरुप्रदीप', 'शेखर' इत्यादि में यही पद्धति अपनायी गयी है। यहाँ संयोग की बात कहकर सन्तोष कर लेने की बात नहीं है, आन्तरिक गहराई में इसका मूल छिपा है।

कहा नहीं जा सकता कि जैनेन्द्र ने इस पद्धति का संकेत कहाँ से ग्रहण किया। हिन्दी में तो यह पद्धति थी ही नहीं। बहुत सस्ते तथा हल्के ढँग से लिखी हुई लघु आत्मकथाएँ, जैसे 'दण्ड देव की आतमा' इत्यादि प्राप्त होती हैं। पर किसी की डायरी को प्रकाशित करने की बात अभी तक हिन्दी में नहीं आई थी। जैनेन्द्र ने यह कहाँ से प्राप्त की ? इसके दो ही साधन हो सकते हैं, बहिरंग तथा अंतरंग।

पहले ही कह दिया गया है कि इस तरह की प्रथा हिन्दी क्या, भरतीय साहित्य में भी नहीं थी। अतः जैनेन्द्र इसके लिए भारतीय साहित्य के ऋणी हों, यह बात नहीं कही जा सकती। हाँ, अंग्रेजी-सहित्य में इसकी लम्बी परम्परा जरूर थी। वास्तव में अंग्रेजी उपन्यास का जन्म इसी तरह हुआ। डीफो के सारे उपन्यास इसी पद्धति में लिखे गये हैं। थैकरे ने अपने 'हेनरी ऐसमोंड' में यही किया है। होरेस वालपोल का 'कैसिल आॅफ ओट्राण्टो' भी इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। पर, जैनेन्द्रजी जैसे अपरिग्रही व्यक्ति से यह आशा करना कि उन्होंने इन्हें पढ़कर इस तकनीक को अपने उपन्यासों का आधार बनाया हो, अधिक अनुमान से काम लेना है। यदि यह बात मान भी ली जाय कि जैनेन्द्र ने वहीं से संकेत ग्रहण किया है तो भी यह जैनेन्द्र की प्रतिभा के लिए कम गौरव की बात नहीं है। साहित्य में मुख्य प्रश्न ऋण का नहीं वैसे तो सब साहित्यकारों ने कालिदास, शैक्सपीयर आदि से ऋण लिये हैं। प्रश्न मुख्य यह है कि उन्होंने उस ऋण के रूप में ली हुई सामग्री का कैसा 'इन्वेस्टमेंट' किया है। क्या ऐसी जगह उसे लगाया है कि उसमें निरन्तर विकास होता रहे ?

जब हम इस पद्धति को अपनाने में जैनेन्द्र पर बाह्य प्रभाव का कम अवसर पाते हैं तो स्वभावतः यह इच्छा होती है कि क्या कोई ऐसा आँतरिक, सूक्ष्म सूत्र भी है जहाँ से वे प्रेरित होते हों। विश्व के इतिहास को सदा दो तरह के युगों से होकर विकसित होना पड़ा है:

१. स्थिरता का युग, २. अस्थिरता का युग।

प्रथम प्रकार के युग में वाह्य जगत् बरकरार रहता है। मनुष्य में आस्था बनी रहती है, वह जीवन के मूल्यों को महत्व देता है और उनमें विश्वास करता है। जीवन राजमार्ग पर बढ़ता चला जाता है, किसी तरह की सप्रश्नता के भाव जगते नहीं, दृष्टिकोण भी वहिर्निष्ठ रहता है।

दूसरे प्रकार के युग में, जिसमें से होकर हम बढ़ रहे हैं, ये सारी बातें उलट-पुलट जाती हैं। ऐसा लगता है कि वाह्य जगत् ने धोखा दिया। अतः मनुष्य निराश होकर अपने आन्तरिक जगत् की ओर लौटता है कि संभवत वहीं शरण मिले। यही हमारा कथाकार कर रहा है। वह दुनिया की कथा न कहकर अपनी कथा कहने लगता है। दुनिया भले ही साथ न दे, वह मेरी बात न समझे, पर मेरा 'स्व' तो मेरे साथ वह सदा साथ रहनेवाला है। उसी पर पैर आजमा-कर देखा जाय। यही कारण है कि उपन्यासों में आत्मचरितात्मकता का विकास हो रहा है। जैनेन्द्र के उपन्यास तो, ऐसा लगता है, दूसरी पद्धति में लिखे ही नहीं जा सकते थे, क्योंकि उनके उपन्यासों में 'स्व' की कथा छोड़कर 'पर' की कथा है ही नहीं।

डायरी वाली बात कहकर जैनेन्द्र ने पाठकों का विश्वास अर्जित करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। मुझे खूब याद है। 'त्यागपत्र' प्रकाशित हुआ। उसकी चर्चा मैंने विद्यावाचस्पति स्व० पं० रामदहिन मिश्र से की। उन्होंने कहा—"अरे, वह तो उनकी कृति नहीं है। वह तो किसी की डायरी उनके हाथ लग गई थी जिसे उन्होंने प्रकाशित करा दिया है।" श्री नानूराम व्यास ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है। उसमें बाण भट्ट के सम्बन्ध में लिखा है कि "डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी को किसी अस्ट्रियन महिला द्वारा कोई प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुई है जिसके द्वारा बाणभट्ट की जीवनी पर नूतन प्रकाश पड़ रहा है।" इस तरह का सुखद भ्रम भारतीय साहित्य में ही हुआ हो, सो बात नहीं। डिफो की पुस्तक Plague of the year है तो उपन्यास ही, पर अभी तक पुस्तकालयों में उसे इतिहास के अनुभाग में रखा जाता है।

उसे खुदवाकर निकलवाते थे, ताकि उसकी प्राचीनता का भ्रम लोगों में दृढ़ हो।*

मैं नहीं कह सकता कि यह पद्धति जैनेन्द्र के हाथों अथवा अन्य समर्थ कथाकारों के द्वारा विकसित होकर कौन रूप धारण करेगी; पर उसका एक रूप यह भी हो सकता है कि उपन्यास के फोटोस्टैट कापी के रूप में जीर्ण-शीर्ण कागजों पर प्रकाशित किये जायँ, कहीं पन्नों पर कीड़ों के बनाये छिद्र भी हों, कहीं कुछ पन्ने गायब हों जिन्हें उपन्यासकार-सम्पादक ने अपनी कल्पना से पूरा कर दिये हों। जैनेन्द्र स्वयं इस ओर अग्रसर हो रहे हैं। 'जयवर्धन' में शिवधाम में सर्वदल की बैठक में सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियों की बातों तक ही विलबर हूस्टन की पहुँच नहीं है। पर वे अपनी कल्पना से उनकी पारस्परिक व्यक्तिगत बातों को भी उपस्थित कर देते हैं। एक स्थान पर हमने उपन्यासकार को शिकारी के रूप में कल्पना करते हुए कहा है, "जैनेन्द्र साँस रोक कर, चुपचाप छिपे बैठे रहकर उचित अवसर की ताक में रहते हैं, शिकार दृष्टिपथ में आया नहीं कि उस पर कूद पड़ते हैं; पर अज्ञेय बाकायदे, घेरा डालकर, उसे पकड़ते हैं। अँग्रेजी के माध्यम से कह सकते हैं The method of Jainendra is to lie in ambush for life, the method of Agneya is to lay a regular siege to it. पर यह प्रवृत्ति जीवन-प्रवाह से घटनाओं के निर्वाचन तक ही सीमित है। निर्वाचित घटना को बाँधकर रखने तथा उनके प्रति willing suspension of disbelief के लिये तो उन्होंने जो मोर्चेबन्दी की है वह उनके अपूर्व कौशल का द्योतक है।

ऊपर हमने कहा है कि जैनेन्द्र के प्रायः सब उपन्यास उत्तमपुरुषात्मक रूप में डायरी के ढंग पर लिखे गये हैं। डायरी के ढंग में लिखे जाने से उपन्यासों में जो विशेषताएँ आ गई हैं उनकी चर्चा थोड़ी-बहुत हो चुकी है। पर उत्तमपुरुषात्मकता के कारण कथा में क्या विशेषताएँ आ जाती हैं, इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। उपन्यास प्रायः दो ही शैलियों में लिखे जाते हैं, सर्वज्ञता के दृष्टिकोण से अथवा सीमित दृष्टिकोण से। अंग्रेजी में प्रथम दृष्टिकोण को Omniscient point of view और दूसरे को limited point of view कह

---

*MICHELANGELO first imitated the ancients with such determination that be amused himself by passing off certain of his statues—among others a Sleeping Cupid—as statues found in excavations. Another statue of love was, so to say, buried by him and then exhumed as a Greek marble.

सकते हैं। प्रथम दृष्टिकोण से लिखे उपन्यासों में उपन्यासकार सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ तथा सर्वान्तिर्यामी, घटघटव्यापी भगवान् बन जाता है। वह सब बातें जानता है, सब बातें बतला सकता है, सब पात्रों तथा घटनाओं की अन्तर्वृत्ति तथा अंतर्कथा को स्पष्टतया बतला सकता है। यह शैली बड़ी सुविधाजनक है और संसार के अधिकांश महत्वपूर्ण उपन्यास इस शैली में लिखे गये हैं। इस शैली द्वारा जीवन की आढ्यता, समृद्धि, विविधता, संकुलता के संस्कारों को पाठकों पर जमाया जा सकता है। पर इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि इस शैली को अपनाने के कारण कथा इतनी फैल जाती है, उसमें इतनी बिखराट आ जाती है, उसमें इतने पात्रों की भरमार हो जाती है कि वे संभाल में नहीं आ पाते।

इस दोष से बचने के लिए उपन्यास-कला ने सीमित दृष्टिकोण वाली शैली का आविष्कार किया। इसमें कथाकार अपने को तीन-चार पात्रों तक ही सीमित कर लेता है और कथा का उतना ही भाग सामने आता है जिसका ज्ञान इन लोगों के लिए संभव था। यही सीमित दृष्टिकोण वाली शैली आगे विकसित होकर 'आत्मपुरुषात्मक' का, जिसे उत्तम पुरुषात्मक कहा गया है, रूप ले लेती है। परिणाम यह होता है कि कथा में कसावट आ जाती है। पात्रों की अधिकता नहीं होने पाती। एक व्यक्ति कितने ही व्यक्तियों के सम्पर्क में आवे भला! कथा-शरीर पर मांस के रूप में पड़े रहने वाले झाड़-झंखाड़ स्वयं छंट जाते हैं और उपन्यास-कला समृद्ध होती है। यही कारण है कि प्रेमचन्द, यशपाल, अश्क इत्यादि के उपन्यासों का संक्षिप्त संस्करण तो निकल सकता है पर जैनेन्द्र के उपन्यासों के साथ यह छेड़-छाड़ नहीं चल सकती।

प्रथमतः तो जैनेन्द्र के उपन्यास में लम्बी-चौड़ी कथा है ही नहीं। जो कुछ भी, उसका कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं। उदाहरण के लिए, 'कल्याणी' उपन्यास में एक नारी की हत्या के बारे में जिसका एकाधिक बार उल्लेख हुआ है उसके संबंध में पाठक निश्चित नहीं कर पाता कि यह 'कल्याणी' के विकारग्रस्त मन की कपोल-कल्पना है या वास्तव में किसी नारी की हत्या हो गयी थी। सच बात तो यह है कि उपन्यास-कला आज जिस अवस्था में पहुँच गई है, उसमें घटनाओं, साहसिक कार्यों, सनसनी खेज-हैरत-अंग्रेज कारनामों के द्वारा उपन्यास की रचना असंभव है। कथा के प्रारम्भिक युग में तो कथोपयोगी विषयों (the mes) घटनाओं तथा एडवेंचर्स को प्राप्त कर लेना उपन्यासकार के लिए सहज था। भूमि क्वाँरी, अछूती थी, उसमें अनन्त संभावनाएँ अन्तर्निहित थीं। भूम्यंतर्गत खान को जिन लोगों ने सपरिश्रम उत्खनित किया, उन्हें अनेक महत्व-पूर्ण उपलब्धियाँ हुईं और उन्होंने उन्हें संसार को दीं। पर अब सारी खानों को

ी तरह एक्सप्लॉइट कर लिया है। अब उस राह कुछ हाथ नहीं लगने
ता है। संभव है, वहाँ कुछ रत्न पत्थरों के बीच इधर-उधर छिपे पड़े हों
र वे पूर्ववर्ती रत्नों से बहुमूल्य भी हों, पर उन्हें प्राप्त करने के लिए अत्यधिक
श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। जब वे प्राप्त होंगे तो सचमुच ऐसे उपन्यास की
लब्धि होगी जो अपनी गौरव-महिमा में 'क्लासिकल' कहलाने का अधिकारी
गा।

कुछ लोग उपन्यासकला की मृत्यु की बात कहते हैं। मेरा मन इसे नहीं
नता, क्योंकि इसके कोई लक्षण दीख नहीं पड़ते। पर इसे एक दिन मरना
ो है ही। सृष्टि स्वयं मरणधर्मा होती है। जन्म ही मृत्युपूर्वक होता है।
उपन्यास अपनी परिपक्वावस्था को पहुँच रहा है। इसी अवस्था में वह अपना
सर्वोत्तम देने की परिस्थिति में हो सकेगा। किसी ने कहा है कि 'साठा सो
पाठा'। वह तो होगा शायद मशखरा ही, पर हँसी-हँसी में ही उसने लाख रुपये
की बात कह दी। जवानी की बड़ी दुहाई दी जाती है। पर वास्तव में वह
दीवानी होती है; उछल-कूद तो बहुत करती है पर उसको सार्थक करती है—
प्रौढ़ता। प्रौढ़ता, मतलब बुढ़ापा। मेरी कल्पना है कि हिन्दी-उपन्यास का यह
बुढ़ापा सार्थक हो। वह पत्थर पर पिस गया, उसकी हिना रंग लायेगी। हम
प्रतीक्षा करें। उपन्यास मरेगा जरूर, पर इसके पूर्व वह अवश्य ऐसी चीज दे
जायगा कि लोग बहुत दिन तक उसे याद करते रहेंगे।

अतः जो व्यक्ति उपन्यास-कला की इस स्वाभाविक गति को, उसके भविष्य
को, होनहार को देख सके उसकी आँखों की तारीफ करनी ही होगी—"यः
पश्यति स पश्यति"। वास्तविक द्रष्टा वही है, और लोग तो देखने वाले मात्र हैं।
आज से तीस वर्ष पहले ही जैनेन्द्र की प्रतिभा ने यह सारी परिस्थिति भाँप ली
थी। प्रेमचन्द के उपन्यासों को देखते ही वे चौकन्ने हो गये। 'जयवर्धन' के
इन्द्रमोहन की तरह सारी परिस्थिति उनकी आँखों के सामने स्पष्ट हो गई।
इन्द्रमोहन ने गणना करके देख लिया था कि देश के भविष्य की गतिवाली
लकीर, जयवर्धन की जीवन-गति वाली लकीर से टकरा रही है। अतः प्रतिकूल ग्रह
के उपशमन के लिए कुछ यज्ञ-जाप होना चाहिए। एक बार कण्व ने योग-बल
से शकुन्तला के जीवन को प्रभावित करनेवाले प्रतिकूल ग्रहों को पहचान लिया
था और उन्हें शान्त करने के लिए तीर्थ-यात्रा पर गये थे। वही जैनेन्द्र ने किया
है। उन्होंने कहा है कि यदि उपन्यास को जीते रहना है तो उसे राह बदलनी
पड़ेगी।

यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों से प्रायः सभी को कुछ-न-कुछ शिका-

यत है। प्रेमचंद की परम्परा पर लुब्ध पाठकों को जैनेन्द्र के उपन्यासों में भव्यता और गंभीरता के दर्शन नहीं होते। दूसरी ओर एंटी-नावेल की माँग करनेवाले पाठक वर्ग को भी संतोष नहीं होगा। प्रत्येक अग्रयायी (Pioneer) लेखक का यह कीमत देनी ही पड़ती है।

मैं यहाँ दास्तोवस्की तथा जैनेन्द्र की कथा-पद्धति (Technique) की कुछ विशेषताओं को आमने-सामने रखकर देखना चाहता हूँ। उपन्यासों की आलोचना के क्षेत्र में एक शब्द बहुत प्रचलित है 'ब्लैक करैक्टराइजेशन'; अर्थात्, घनीभूत पिंड़ित चरित्र-चित्रण। कल्पना कीजिये कि उपन्यास में चार पात्र आनेवाले हैं। उपन्यासकार उपन्यास के प्रारम्भ में ही उनकी वेषभूषा, शारीरिक आकृति तथा उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करेगा। उनके जीवन में जितनी घटनाएँ घटेंगी, वे सब उसी के अनुरूप होंगी। राम अपने रामत्व को और रावण अपने रावणत्व को कभी भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। ट्रालाप के उपन्यास में परिच्छेद-के-परिच्छेद इसी तरह के वर्णन में समाप्त किये गये। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति प्रबल है।

दास्तोवस्की में भी यह प्रवृत्ति प्रबल है। पर जहाँ अन्य उपन्यासकार इस तरह के वर्णन का आश्रय पाठकों को पात्रों के बारे में आश्वस्त करने के लिए करते हैं वहाँ दास्तोवस्की इसका प्रयोग पाठकों को मानसिक आघात प्रदान करने के लिए करते हैं। किसी पात्र को उपस्थित करने के पूर्व दास्तोवस्की उसकी पूर्व जीवनी का उल्लेख करेंगे और पाठक में ऐसा भ्रम पैदा हो जायगा कि वह उस पात्र की रग-रग से परिचित है और वह जानता है कि किसी परिस्थिति के प्रति उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी; पर जब वह पात्र अपने क्रिया-व्यापार में प्रवृत्त होगा, दूसरों के साथ सम्पर्क में आयेगा तो उसके व्यवहार तथा क्रिया-कलाप ठीक उसके विपरीत होंगे जिसकी पाठक ने कल्पना की थी। इस परिस्थिति में पाठक की कल्पना दो व्यक्तियों में—एक उपन्यासकार के द्वारा वर्णित व्यक्तित्व, दूसरा पात्र के क्रिया-कलाप के द्वारा अभिव्यंजित व्यक्तित्व, सामञ्जस्य के सूत्र की खोज में व्यस्त हो जाती है। अर्थात्, पाठक, पाठक मात्र ही नहीं रह जाता, वह स्वयंसृजक उपन्यासकार बन जाता है। मतलब कि दास्तोवस्की का महत्व घटनाओं तथा पात्रों की योजना में नहीं, वरन् इसमें है कि घटनाएँ ऐसे रूप में उपस्थित की जाती हैं कि पाठक उनके प्रति एक विशिष्ट ढंग से प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य हो जाता है।

जैनेन्द्र भी पाठक को अपने उपन्यास में वर्णित पात्रों के प्रति एक विशिष्ट ढंग से प्रतिक्रिया-तत्पर होने के लिए बाध्य करते हैं; उनकी पद्धति दास्तो-

वस्की की पद्धति नहीं है। जैनेन्द्र पात्रों के बारे में पहले कुछ नहीं कहेंगे। उनके पात्रों के सम्पर्क में जब पाठक आता है उस समय तक उसका तीन-चौथाई जीवन-व्यापार समाप्त हो गया रहेगा। उपन्यास का आरम्भ चरम-सीमा के उपकंठ में होगा, कथा कथा के रूप में समाप्त ही होनेवाली है। यदि कहानी का भरोसा करें तो उपन्यास का स्वरूप खड़ा नहीं हो सकता। अतः पाठकों के मनोविज्ञान का सहारा लो। उनसे पात्रों के बारे में कुछ भी कहो मत। अन्दर से ही जिज्ञासा पैदा होने दो। अतः जैनेन्द्र पात्र के बारे में कुछ भी नहीं कहेंगे; जो कुछ उनकी क्रियाएँ कह देंगी, वही पर्याप्त होगा। जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रारम्भ से ही पाठकों के मनोविज्ञान को एक एस्थेटिक फंक्शन परफॉर्म करना पड़ता है, सौन्दर्याधायक तत्त्व का कार्य-सम्पादन करना पड़ता है।

दास्तोवस्की के उपन्यास बृहदाकार हैं, उनका कोई उपन्यास ४००, ५०० पृष्ठों से कम का नहीं है। जैनेन्द्र का कोई उपन्यास इतना बड़ा नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यास भी कम विशालकाय नहीं हैं। पर प्रेमचंद के उपन्यासों की बृहदाकारता तथा दास्तोवस्की की बृहदाकारता में बहुत अन्तर है। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा लम्बी-चौड़ी है। दास्तोवस्की के उपन्यासों में कथाभाग बहुत ही कम है। आप सैकड़ों पृष्ठ पढ़ जाइये, पर उनमें जो कथा आई है, वह तीन दिनों के तीन घंटों की है। फिर भी प्रेमचंद के उपन्यासों की बुनावट झीनी मालूम पड़ती है, पर दास्तोवस्की के उपन्यास-जैसा "अनुज्झितार्थ सम्बन्ध, गाढ़बंधुत्व" अन्यत्र दुर्लभ है। जैनेन्द्र के लिए गाढ़बंधत्व के निर्वाह का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनके उपन्यास गाढ़बंधत्व के सिवा कुछ हैं ही नहीं। वे चित्रकार (Painter) भले ही न हों और अपने चित्र को भले ही उन्होंने सजाया नहीं हो, उसकी रेखाएँ और रंग भले ही उभरे नही हों, भले ही उन्हें आप dauber कह लें—यों ही लीपा-पोती करनेवाला—पर अपने कला-चित्रण में उन्होंने जिस रक्त के धब्बे बैठाये हैं, वह हृदय का गाढ़ा रक्त है; वह रक्त नहीं, जिसे लगाकर लोग शहीद बनते हैं। 'कल्याणी' की एक-एक पंक्ति 'त्यागपत्र' की एक-एक उक्ति हृदय के रक्त की लाली से लाल है। अतः जिस ओर भी उन्हें बिखेर दिया जाता है, अर्थात् जिस पाठक के पास भी वे पहुँचती हैं, उसके हृदय-क्षितिज को लाल कर देती है।

'त्यागपत्र' के जज साहब मृणाल—वह मृणाल जो थर्डक्लासी वेश्या का नारकीय जीवन व्यतीत करती है—उसे आदरपूर्वक वहाँ से हटाकर सभ्य प्रतिष्ठित समाज में ले जाने का प्रस्ताव करते हैं। इस पर जो वह कहती है उसमें

इतना प्रासंगिक है, इतनी ईमानदारी है, यह इतना मार्मिक है और मर्मस्थल को इस तरह छू देता है, यहाँ के रंग के धब्बे इतने गाढ़े हैं कि वे पाठक की दृष्टि का नैतिक पर्दा दूर कर देते हैं और वह बात के सच्चे स्वरूप से अवगत हो जाता है। जिसको दिव्य दृष्टि कहते हैं क्या वह इससे कुछ दूसरी होती होगी? उद्धरण कुछ बड़ा अवश्य है पर उसे यहाँ देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ—"यहाँ का लाभ?—तुम पूछोगे। लाभ बहुत है। यहाँ किसी को कहने का लोभ नहीं है कि मैं सच्चरित्र हूँ। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही यहाँ कीमती है। यहाँ उसी हिसाब से मानव की घट-बढ़ कीमत है। मैं मानती हूँ कि यही रोग है। यही भयानक जड़ता है। किन्तु यही लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असंभव है कि कोई अपने को सच्च-रित्र दिखाए, दिखाना चाहे, या दिखा सके। यहाँ सदाचारी का कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि ऋण मूल्य है। अगर कहीं भीतर है, बहुत भीतर मज्जा तक में छिपा पशुता का कीड़ा है तो यहाँ वह ऊपर आ रहेगा। यहाँ छल असम्भव है, जो छल कि सभ्य समाज में जरूरी ही है। यहाँ तहजीब की मांग नहीं है, सभ्यता की आशा नहीं है। बेहयाई जितनी उघड़ी सामने आवे उतनी यहाँ रसीली बनती है। बर्बरता को लाज का आवरण नहीं चाहिए। मनुष्य यहाँ खुल कर पशु हो सकता है। जो नहीं हो सकता, उसकी मनुष्यता में बट्टा समझा जाता है। इसलिए सच्चरित्र दीखनेवाला यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जामज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर हो। भीतर पशु हो तो इस जलवायु में आकर बाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होना होगा, कलईवाला सदा-चार यहाँ खुलकर उघड़ रहता है। यहाँ खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि यह कहे कि मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचन की मांग नहीं है, पीतल से घबराहट नहीं है। इससे भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखने का लोभ यहाँ छन-भर नहीं टिकता है। बल्कि यहाँ पीतल का ही मूल्य है। इसी से सोने के धैर्य की यहाँ परीक्षा है। सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी। यह यहाँ की कसौटी है।"

मैंने योरुपीय कथा-साहित्य का अधिक अध्ययन नहीं किया है पर वहाँ भी इस तरह का सशक्त, हृदयोन्मंथक, नेत्रोन्मीलक, झकझोर देनेवाला वक्तव्य शायद ही उपलब्ध हो। जैनेन्द्र का सारा कथा-साहित्य इसी तरह के मार्मिक स्थलों के आधार पर खड़ा है। शुक्लजी ने कहा है कि महाकाव्यकार को कथा के मर्मस्थलों को पहचानने की क्षमता होनी चाहिये। यह बात केवल महाकाव्य-

कार के लिये ही नहीं उपन्यासकार के लिये भी उतनी ही लागू होती है। जैनेन्द्र की उपन्यासकला में अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं पर मार्मिक वक्तव्यों, मार्मिक वार्तालापों, मार्मिक स्थलों की योजना की कला में वे अद्वितीय हैं।

प्रसंगानुसार मुझे साहित्य-दर्पण का एक प्रसंग याद आया। प्रश्न था कि बड़े-बड़े महाकाव्यों में तो अनेक उक्तियाँ ऐसी हैं जिनका उद्देश्य केवल कथा की कड़ियाँ मात्र जोड़ना है, वे नीरस होती हैं, रसात्मकता का स्पर्श उनमें जरा भी नहीं। तो उन्हें भी काव्य की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिया जाय? अन्त में निर्णय यही हुआ कि नहीं, उन्हें भी काव्य ही कहा जायगा क्योंकि महाकाव्य में जो सरस स्थल हैं उनसे खींचकर सरसता उन्हें भी प्राप्त होती रहती है "ननु तर्हि प्रबन्धान्तवर्तीनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गत नीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्"।

'जयवर्धन' में ऐसे मार्मिक तथा सरस प्रसंगों की भरमार है। जहाँ-जहाँ जयवर्धन बोलते हैं, जहाँ-जहाँ इला अपने पूर्व जीवन को Flash-back पद्धति, पूर्वदीप्ति पद्धति पर जीने लगता है, उदाहरणार्थ जय का समुद्रतट पर इला का मिलने का दृश्य वे सब उपन्यास के गौरव स्तम्भ हैं। मार्मिक वार्तालाप, चुभती हुई भाषा, मार्मिक स्थलों की योजनाएँ, जयवर्धन में अद्वितीय हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का एक ही उपन्यास और है जो जयवर्धन से प्रतिस्पर्धा कर सके। वह है 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। पर उसमें वैदुष्य, पाण्डित्य, शास्त्रा-व्ययन, ऐतिह्य की गौरव-गरिमा भी है अतः उसमें एक तरह का क्लासिकल गौरव का भी समावेश हो गया है। प्रुस्ट के उपन्यासों के सम्बन्ध में अपने विचार करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि—यदि उसके उपन्यास में जरा एक चुटकी कथा भी आ जाती है तो वह उपन्यास हर तरह से पूर्ण हो जाता है।

With a pinch of drama really we should have been satisfied with almost nothing—the work would have been perfect. प्रसन्नता की बात है कि जैनेन्द्र की अन्तर्प्रज्ञा ने इस बात को समझा है और जयवर्धन में आकर इसका परिमार्जन करने की चेष्टा की है। पर "सरसः विपरीतश्चेद्रसत्वं न तु मुंचति" के अनुसार जैनेन्द्रत्व वहाँ पर लगा ही हुआ है।

यह नहीं कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा है ही नहीं। उनमें कथा के प्रति उदासीनता अवश्य है पर इसका अर्थ इतना ही है कि अन्य उपन्यासों में कथा

का जैसा क्रमिक-विकास होता है, Orderly unfolding of the plot होता है वैसी सस्ती सुघराई वहाँ पर नहीं है। उनके उपन्यास Panormic (विशाल) नहीं है, Scenic हैं अर्थात् दृश्यात्मक है। Panormic (विशाल) तथा Scenic (दृश्यात्मक) में क्या अन्तर है इसे थोड़ा समझ लेना चाहिये। जब कथाकार अपनी कथा की गत्यात्मकता पर प्रतिवन्ध लगाकर यह वतलाने के लिये ठहर जाता है कि वह क्या देख रहा है तो वर्णन Panormic हो जाता है। जब कथाकार घटनाओं को केवल उपस्थित कर स्वयं अलग हो जाता है, घटनाएँ स्वयं वोलने लगती हैं तव उपन्यास दृश्यात्मक हो जाता है। वह नाटक के उपकण्ठ में आ पहुँचता है। चूँकि घटनाएँ उपन्यासकार की तरह मुखरित नहीं हो सकती अतः उनकी वोली में जो कमी रह जाती है उसे स्वयं को पूरा करना पड़ता है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों के पाठक को सदा जागरूक रहना पड़ता है।

जैनेन्द्र वास्तविक रूपेण सतर्क कलाकार हैं जिसे अंग्रेजी में Conscious artist कहते हैं और जो अपनी कला की रक्षा बड़ी तत्परता के साथ करता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जैनेन्द्र के उपन्यास सीमित दृष्टिकोण से कहे गये हैं। वे पात्र-उपन्यासकार की डायरी या कथा के रूप में उपस्थित किये गये हैं। परिणाम यह होता है कि उपन्यास में कोई घटना नहीं आ सकती जिसमें पात्र उपस्थित नहीं हैं। सर्वसमर्थ उपन्यासकार को तो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' का अधिकार है। पर सीमित दृष्टिकोण वाले मतलव अपने को पात्र तक सीमित रखनेवाले जैनेन्द्र को इतनी स्वतन्त्रता लेने का अधिकार नहीं। वे वैसी कोई भी वात नहीं कह सकते जिसे पात्र की जानकारी नहीं हो। अतः कथा के निर्वाह के लिये उपन्यासकार को इसी परिस्थिति में वड़ी कठिनाई में पड़ जाना पड़ता है।

'त्यागपत्र' से एक उदाहरण लीजिये। मृणाल की वात उसके पिता से हो रही है। प्रमोद भी वहीं है। पर प्रमोद के सामने वे वातें नहीं की जा सकतीं। अतः प्रमोद को वहाँ से हटाना आवश्यक है। "जाओ' प्रमोद, अपना काम देखो। मैं तुरत नहीं उठ गया इस पर नाराज होकर वोले, सुनते नहीं हो? जाओ। मैं कमरे से वाहर तो आ गया।" प्रमोद वाहर आ तो गये पर कथा के विकास के लिये यह जानकारी आवश्यक है कि वहाँ पर पिताजी तथा मृणाल में क्या वातें हुयीं। इसके अभाव में तो कथा का स्वरूप ही खड़ा नहीं हो सकता। उपन्यासकार वेचारा क्या करे। वड़ी विकट परिस्थिति है। पर परिस्थिति की चुनौती का सामना करना ही तो कला का कौशल है। जब प्रमोद कहते हैं, "मैं

कमरे से बाहर तो आ गया लेकिन पूरी तरह चला नहीं गया। यह वाक्यांश "लेकिन पूरी तरह चला नहीं गया" ने बड़े विकट अवसर पर काम दिया है। ऐसे अनेक उपन्यासकार हैं जिनमें इतनी थोड़ी-सी सतर्कता के अभाव में उनके उपन्यास में मिथ्यात्व की छाया आ गई है।

ऊपर कहा गया है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में दृश्यात्मकता है अर्थात् उनमें नाटकीय तत्व अधिक हैं। वे हैं तो उपन्यास ही पर वे नाटकोन्मुख अधिक हैं। मेरी कल्पना है कि यदि जैनेन्द्र के उपन्यासों की फिल्म बने तो उसमें बड़ी सुविधा हो सकती है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में Voyeurims की प्रवृत्ति अधिक है।

बहुत व्यक्तियों में, विशेषत: बालकों में, दूसरों की प्रणय-क्रीड़ाओं को छिप कर देखने की, उनकी बातें सुनने की तथा देखी हुई अथवा सुनी हुई बातों को दूसरों को दिखलाने तथा सुनाने की अदम्य प्रेरणा होती है। इसे ही Voyeurism कहते हैं और इस तरह के व्यक्ति को Voyeur। रहस्य-दर्शन सृजन की पहली शर्त है। प्रत्येक सृजनशील साहित्य-प्रकार, यहाँ कथाकार, नैसर्गिक रूप में Voyeur होता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी है कि सारा उपन्यास ही इसी के आधार पर विकसित हुआ है। 'त्यागपत्र' तथा 'कल्याणी' के कृतित्व के मूल में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। 'कल्याणी' में श्रीधर न जाने कहाँ-कहाँ से कौन-सी बात सुनकर आते हैं। वे बड़े उत्साह से सारी सुनी हुई बातों को सुनाते हैं और इस तरह कथा आगे बढ़ती है। किसी बात को किसी से कहना यह कोई असाधारण बात नहीं है पर जिस उत्साह से, वेग से, त्वरा से, मजे ले लेकर श्रीधर बातें करते हैं वह Voyeuristic तर्ज का है। उसमें ही कुछ असाधारणता है। 'सुखदा' तथा 'विवर्त' इत्यादि में भी इसी तरह की लुका-छिपी का वातावरण है। समय-असमय छिपकर गुप्त रूप से पात्र दूसरों की बातें सुन लेते हैं और तद्भव व्यापार से ही उपन्यास आगे बढ़ जाता है। 'सुनीता' में भी सत्या इसी तरह का पार्ट अदा करती है। 'जयवर्धन' में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं।

सुनीता, हरिप्रसन्न और सत्या तीनों हैं। पर सत्या रसोई घर में है। उस का दृश्य देखिए। "जब सुनीता स्टडी रूम में हरिप्रसन्न से बात करने आई थी, उसके कुछ देर बाद सत्या को मालूम हुआ कि खाने के बारे में जीजी से कुछ बात जरूरी तौर पर अभी पूछ लेने लायक उठ आई है। पहले तो वह उसे जैसे दाबे रही, दाबे रही। लेकिन जब जीजी लौट कर आनेवाली ही नहीं दीखी तो सत्या बेचारी मानो लाचार ही होती चली गई। उस समय खिची-खिची

उस स्टडी रूप के दरवाजे तक चली आई। यहाँ तक चली आई, तब यहीं तक रुक गई। राम-राम अन्दर कैसे जाय ? सो वहीं खड़ी-खड़ी उन दोनों की बातें सुनती रह गई। क्या उन बातों का वह एक शब्द भी सुनना चाहती है ? पर जब उनके अंश-अपभ्रंश अपने आप उसके कानों तक पहुँचने लगे, तब वह वहाँ ऐसे खड़ी रह गई, जैसे गड़ गई हो"। इन पंक्तियों से Voyeurism की प्रवृत्ति स्पष्ट है। यह अवश्य है कि यह ताक की प्रवृत्ति जैनेन्द्र के उपन्यास में अधिक विकसित होने नहीं पाई है पर विशेष रूप से यहीं पर यह प्रवृत्ति आरम्भ हो गई थी। चारुचन्द्रलेख में (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) में यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई है। डा० रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' में भी यह प्रवृत्ति ऊरुज पर है। मेरी कल्पना है कि भविष्य में इस प्रवृत्ति का आधार पाकर हिन्दी कथा-साहित्य अधिक समृद्ध होनेवाला है।

अन्त में हमारा निष्कर्ष यही है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य को एक बहुत ही गौरव-मंडित "स्थित: पृथिव्या इव मानदण्ड: हिमालयो नाम नगाधिराज:" उपन्यास नहीं दिया हो जिसके उच्च शिखरों के प्रति हम अनायास ही विनम्र हों पर उन्होंने उपन्यास कला का नया मार्ग-दर्शन अवश्य किया है, नई-नई उद्‌भावनायें अवश्य दी हैं जिनके आधार पर अनेक जैनेन्द्र परवर्ती उपन्यासकार अपने कृतित्व का निर्माण कर रहे हैं। ○

: ५ :

जैनेन्द्र कथा-साहित्य : एक मनोवैज्ञानिक अभिगम

इस परिच्छेद में हम जैनेन्द्र के कथा-साहित्य पर मनोविज्ञान के संदर्भ में विचार करेंगे। मनोवैज्ञानिक उपन्यास शीर्षकवाले प्रथम परिच्छेद में साधारण तौर पर कुछ विचार अभिव्यक्त किये गये हैं और यथासम्भव जैनेन्द्र के उपन्यासों से ही उदाहरण देकर उपपत्तियों का समर्थन किया गया है। यहाँ पर हमारा ध्येय यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान ने जो हमें ज्ञान-रश्मि दी है, नई आँखें दी हैं, समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार करने की सामर्थ्य दी है उसको हम जैनेन्द्र के कथा-साहित्य पर प्रयोग करें और देखें कि इस क्रिया से उसके कौन-से पहलू सामने आते हैं। यह मानने में तो किसी को कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती कि कोई दृष्टिकोण, चाहे वह कैसा भी हो, यदि उसके द्वारा विवेच्य वस्तु पर कोई ज्ञानोन्मीलक प्रकाश पड़ता है तो उसका सहारा लेने में कोई हानि नहीं है। प्रयोग का अर्थ खींचातानी नहीं है, येन केन प्रकारेण जिस किसी वस्तु से जो कोई बात निकाल लेना नहीं है। प्रयोग का अर्थ Gentle pressure है अर्थात् एक ऐसी वस्तु को सामने रख देना जिसके द्वारा आलोच्य वस्तु को अपने रहस्यों को प्रकट करने में सहायता मिले। व्यक्ति अपने भी बन्द रहता है, दूसरों के सामने अपने को खोलने में हिचकिचाता है। परन्तु यदि उसे प्रोत्साहन मिले तो वह अपने हृदय को खोलता भी है। हम वैसा ही प्रोत्साहन देना चाहते हैं जैनेन्द्र के उपन्यासों को। चारा देकर प्रेम से पुचकार कर यदि किसी पशु को बुलायें तो वह झट से पास आ जाता है और प्रेम प्रकट करने लगता है। हम मनोवैज्ञान का चारा देकर जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रतिक्रियातत्परत्व का अवलोकन करना चाहते हैं। अंग्रेजी के शब्दों में कहें तो हम जैनेन्द्र के उपन्यासों की ओर Psychologically approach करना चाहते हैं।

कथा-साहित्य के प्रति इस मनोवैज्ञानिक अभिगम के तीन रूप हो सकते हैं।

मतलव कि इस रूप से कथा-साहित्य के प्रति अभिगमन करनेवाला, उसका अध्ययन करनेवाला तीन वातों को ढूंढ सकता है : (१) पाठक कथाकार की जीवन-कथा के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सकता है और वहाँ से प्राप्त तथ्यों के आलोक में उपन्यास की घटनाओं, प्रवृत्तियों, पात्र-पात्रियों की विशेषताओं के रहस्यों को समझने-समझाने का प्रयत्न कर सकता है। यदि उपन्यासकार की जीवनी उपलव्ध न हो तो वह उपन्यास के आधार पर उपन्यासकार की एक काल्पनिक जीवनी का भी निर्माण कर सकता है। यदि वहिर्साक्ष्य के द्वारा उसका थोड़ा भी समर्थन मिल जाय तो वह अपनी कल्पना के वारे में तब तक निश्चिन्त रह सकता है जव तक उसे अपनी कल्पना के विरुद्ध अकाट्य प्रमाण उपलव्ध न हो जाय। इस तरह के वहुत से अध्ययन यूरोपीय साहित्य में प्राप्त है। जैनेन्द्र का भी अथवा किसी कथाकार का अध्ययन इस दृष्टि से उपस्थित कर वहुत से उपयोगी तथ्य उपलव्ध किये जा सकते हैं। और कुछ न तो टी० एस० इलियट ने जो यह कह दिया कि कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है (Poetry is not expression of personality but escape from personality) इसके विरुद्ध कुछ प्रमाण तो मिल ही सकते हैं और कहा जा सकता है कि जिसे उन्होंने पलायन (escape) कहा है वह एक उच्चतर प्रकार की अभिव्यक्ति है।

मैं अभी जैनेन्द्र के उपन्यास तथा कहानियों से भी उदाहरण दूंगा पर अपनी मान्यताओं के प्रति पाठकों के मन में विश्वास उत्पन्न करने के लिये एक-दो उदाहरण यूरोपीय कथा-साहित्य से भी देना चाह रहा हूं। कारण कि इस तरह के अध्ययन वहाँ पर उपलब्ध हैं और उन्हें मान्यता भी प्राप्त हो चुकी है और लोग उन्हें वड़े आदर के साथ उद्धृत भी करते हैं। जो वात वड़े-वड़े विद्वानों, जनसाधारण के एक वड़े समूह तथा एक प्रवुद्ध आलोचक वर्ग के द्वारा समादृत हो सके उसमे सत्यता का कुछ अंश माने विना काम चल ही कैसे सकता है ?

अंग्रेजी साहित्य के सभी स्वाध्यायकों ने समवेत स्वर से जीन आस्टिन की उपन्यासकला की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। जव आलोचकों के सामने यह प्रश्न आता है कि क्या कारण है कि उनके उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के साधारण चित्र ही चित्रित हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं, दैनिक छोटी-मोटी घटनाओं का ही समावेश है पर फिर भी उनमें इतनी श्रद्धा, प्रशंसा, वन्दनीयता की पात्रता कैसे आ गई।

संस्कृत में एक श्लोक है :

विद्या ददाति विनयं विनयाद्‌याति पात्रतां,
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति ततो धर्मं ततो सुखम्।

मतलब कि ज्ञान-गौरव सुख के मूल में है, वही सब कुछ देता, सबके लिए मार्ग प्रशस्त करता है। पर जीन ग्रास्टिन के उपन्यासों में तो ज्ञान-गौरव के नाम पर कुछ भी प्राप्त नहीं। फिर उनमें इतना आकर्षण कहाँ से आ गया ? इस प्रश्न का समाधान कुछ लोगों ने टेकनीक तथा सूक्ष्म निरीक्षण की बात कहकर करने का प्रयत्न किया है। कहा है कि जीन ग्रास्टिन के प्लाट बड़े सुसंगठित हैं, कथा साफ-सुथरी है, उपन्यास लेखिका का निरीक्षण बहुत सूक्ष्म है अतः उनकी रचना आकर्षक हो गई है। परन्तु इनकी रचनाओं में जो सार्वभौम अपील है वह टेकनीक जैसी सस्ती आधार पर खड़ी नहीं रह सकती। टेकनीक बाहरी चीज है, वह शोभावर्द्धक तत्व तो हो सकती है पर प्राणाधायकत्व उसमें नहीं आ सकता। हाँ, सूक्ष्म निरीक्षण की बात कुछ समझ में आ सकती है।

आलोचकों ने देखा है कि जीन ग्रास्टिन के सब उपन्यासों में, केवल अन्तिम उपन्यास Persuation को छोड़कर, कथाएँ मिलते-जुलते समान प्रतिरूप में विकसित हुई हैं, एक ही ढांचे में ढली है, उनका पैटर्न (pattern) समान ही है। सभी नायिकाओं के दो प्रेमी हैं। एक आकर्षक है, सुन्दर है, नवयुवक है। नायिकाओं का समवयस्क भी है, नायिकाओं की माताओं की ओर से भी इन को नायकों समर्थन प्राप्त होता है और वे चाहती हैं कि उनकी पुत्रियाँ उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर उनसे विवाह करें। दूसरा प्रेमी इतना आकर्षक तो नहीं है, पर संभ्रम है, उदार है, गम्भीर है, कदाचित कुछ अवस्था में भी वह कन्याओं से बड़ा है, कन्याओं की माताओं द्वारा उन्हें समर्थन प्राप्त नहीं है। पर फिर भी कन्यायें प्रथम वर्ग के प्रेमियों का तिरस्कार कर दूसरे वर्ग वाले व्यक्तियों से ही विवाह करती हैं। मतलब यह कि जिसे मनोविश्लेषण में इडियस परिस्थिति (Edipus situation) कहा गया है उसकी सारी सामग्री वर्त्तमान है। यहाँ नायिकाओं की बात चल रही है अतः इडिपस परिस्थिति न कह कर एलेक्ट्रा परिस्थिति (Electra situation) कहना अधिक उपयुक्त होगा। बालिका पिता को प्यार करती है और बालक माता को। यहाँ प्रथम वर्ग के जितने प्रणय-प्रार्थी हैं वे माताओं के लिये पुत्रस्थानापन्न है और दूसरे वर्ग के प्रणयी कन्याओं के लिये पिता-स्थानीय हैं। अतः माताओं का पक्षपात प्रथम वर्ग के साथ है तथा कन्याओं का द्वितीय वर्ग के साथ। अर्थात् कन्याओं ने विवाह किया है पतियों के साथ ही पर यह उनके चेतन मस्तिष्क की ही कल्पना है। वास्तव में उनका अचेतन उनको पिता के रूप में ही देखता है और तृप्ति लाभ करता है।

जीन आस्टिन के अन्तिम उपन्यास में Persuation में कथा के रूप में एकदम परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन अकस्मात् तो नहीं हो गया है, धीरे-धीरे कथा इस ओर अग्रसर हो रही थी पर जीन आस्टिन के उपन्यासों का विवरण उपस्थित करना हमारा अभीष्ट नहीं है, अतः उसकी चर्चा नहीं हो रही है। Persuation में माता का चित्रण अधिक सहानुभूति-पूर्ण है और पिता घृण्य, अहंभावी, मूर्ख एवं अपार स्वार्थ-परायण व्यक्ति के रूप में चित्रित है। ऐसा लगता है कि जीन आस्टिन ने इन प्रतीकों के द्वारा अपने ही जीवन की आन्तरिक कथा कही है। अब तक जिस कल्पना को वह अपने हृदय की तह में पोसती आई थी वे निस्सार प्रामाणित हुई, उन्होंने उन्हें धोखा दिया, उन्हें शांति नहीं मिल सकी। पितृ-प्रेम ने उन्हें विवाह करने से रोका और उनका जीवन वन्ध्या ही रहा। इसका उन्हें पश्चाताप रहा जो इस रूप में प्रगट हो सका। कहने का अर्थ यह है कि जीन आस्टिन के उपन्यास में मानवता के एक वृहद् अंश की भाव-सत्ता पर अधिकार करते रहने की सामर्थ्य है वह इसलिए है कि हो न हो वे किसी रहस्यमयी प्रक्रिया द्वारा हमारी अचेतन में स्थित प्रवृत्तियों को तृप्त करते हैं।

इसी तरह का कुछ विचार मैंने 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक' नामक पुस्तक में 'उपन्यास से उपन्यासकार तक' शीर्षक निवन्ध में टामस हार्डी के उपन्यासों पर विचार करते हुए प्रकट किया है। उनके उपन्यासों के पात्र तथा घटनायें एक विशेष ढाँचे में ढलने के लिये क्यों वाध्य है इसका विवेचन किया गया है। वहीं पर जैनेन्द्र की कथाओं पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न हुआ है। पर जरा ठहरिये, एक चित्रकला से तथा रूसी उपन्यासों से भी एक उदाहरण ले लिया जाय।

लियोनार्डो दा विंशी के चित्रों में आलोचकों ने देखा है कि वहाँ पर सब कुछ है, परन्तु किसी पुरुप का चित्रण नहीं है। उसका चित्र 'Medonna and child with St. Anne' नामक प्रसिद्ध चित्र में एक वालक है दो नारियाँ हैं, एक पशु शावक का भी चित्रण है, नारियों की मधुर छवि सारे वातावरण में अमृत घोल रही है, पर वहाँ पर पुरुप को स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। मनोवैज्ञानिकों ने लेखक की जीवनी का अध्ययन कर इस विपय पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। प्रश्न यह था कि उसके चित्रों में पुरुप के प्रति उपेक्षा की भावना क्यों ? एक परिवार के चित्र का अंकन करते समय यदि वह पशु तक को भूल नहीं पाया है तब उस परिवार के पुरुप के प्रति इतनी अवहेलना क्यों ? इसका कारण यही है कि चित्रकार को अपने पिता का स्नेह प्राप्त नहीं हो सका

था। पहले तो अपनी माता पर निर्भर करता था, बाद में उसे सौतेली माता मिली जिसमें भी उसके प्रति स्नेह के भाव पूर्णरूप से वर्तमान थे। तब उसके चित्रों में पुरुष को अर्थात् पिता को स्थान क्यों मिलता। उसके आन्तरिक मन ने तो पिता को देखा ही नहीं था। यही कारण है कि उसमें पुरुष को निरादृत करने की आन्तरिक लाचारी है।

तुर्गनेव, जो रूसी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं, उनके उपन्यासों की बात ठीक उसके विपरीत है। 'लियोनार्डो दी विंशी' की कृतियों में पुरुष अर्थात् पिता का नितान्त अभाव है, पर तुर्गनेव के उपन्यासों में यह विशेषता पाई जाती है कि जहाँ उसने विश्व के अन्य विषयों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है, वहाँ पर उसने किसी ऐसी माता की चर्चा नहीं की है, जिसमें सहृदयता और सद्-विवेक के भाव हों। इसका क्या कारण है? इसका भी मनोविज्ञान के आधार पर कुछ कारण निकाला जा सकता है और वह कारण यही हो सकता है कि तुर्गनेव को अपनी माता के प्यार की सुखद अनुभूति नहीं थी और हो न हो माता के द्वारा प्रेम पाने की जो बालक में भूख होती है उसकी तृप्ति सन्तोषजनक रूप में नहीं हुई थी। तुर्गनेव के जीवन का अध्ययन करने से इस कल्पना को समर्थन प्राप्त होता है। तुर्गनेव का जन्म २८ अक्तूबर १८१८ में रूस के दक्षिणी प्रदेश में Orel नामक स्थान पर हुआ था, जो मास्को और Kiev के बीच में है। उसका परिवार सम्पन्न था। उसे द्रव्याभाव की कटु अनुभूति का सामना नहीं करना पड़ा। उसमें अभिजातय की बू थी। उसकी माता एक धनी परिवार की कन्या थी और उसका विवाह एक सुन्दर तथा अविवेकी सैनिक अधिकारी से हुआ था, जो उससे ६ वर्ष छोटा था। दोनों का दाम्पत्य जीवन बहुत ही कटु तथा दुःखपूर्ण था। उन दोनों में सदा मत विभिन्नता रहती थी। उनमें सदा पारस्परिक कलह मचा रहता था और वे अपने पुत्र के साथ भी सद्व्यवहार नहीं करते थे। तुर्गनेव अपने वार्द्धक्य में इस बात की चर्चा करते थे कि उनकी माँ की आँखों से निकले हुए आँसुओं की धारा जो उनके मुख में पड़ती थी उसका नमकीन स्वाद आज भी उसे याद आता है। सौभाग्यवश पिता का देहांत उसी समय हो गया जब तुर्गनेव छोटा बालक ही था और अब केवल माता का सामना करना ही उसे रह गया था। पर माता भी कम [illegible] नहीं थी। वह विशेषकर रूसी लेखकों से घृणा करती थी और चाहती थी कि उसका पुत्र एक ऐसे सम्पन्न परिवार की कन्या से विवाह करे जिससे उसे [illegible] तथा आर्थिक लाभ हो और उसका कैरियर बने। इधर पुत्र आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ था और सरकार की कृपाओं को [illegible] की तरह

न थी। माता और पुत्र कभी एक-दूसरे के भावों तथा विचारों को समझ नहीं सके और आगे चलकर पूर्ण रूप से पृथक हो गये। तुर्गनेव ने बाद में माता से मिलने के कई बार बहुत प्रयत्न किये, परन्तु उसने सबको ठुकरा दिया। तुर्गनेव ने अपनी माँ के अंतिम दर्शन करने का भी प्रयत्न किया, परन्तु उसके पहुँचने के पहले ही वह चल बसी थी। वहाँ पर लोगों के द्वारा पता चला कि अपनी मृत्यु की रात को उसकी माँ ने अपने पासवाले कमरे में नृत्य और संगीत के आयोजन करने की आज्ञा दी थी, ताकि वह अपनी पीड़ाओं को भूल सके। उसका अंतिम विचार यह था कि वह बहुत छोटी रकम पर अपनी सारी सम्पत्ति को बेच डाले, ताकि उसका पुत्र उसके उत्तराधिकारी नहीं हो सकें और बेचने से जो सम्पत्ति बच जाय उसमें आग लगा दी जाय। इन तथ्यों के आलोक में यदि तुर्गनेव के साहित्य में एक बुद्धिमती तथा सहृदयमां के अभाववाली बात देखी जाय तो इसके समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

टामस हार्डी के उपन्यासों में, (विशेषत: Jude the obscure) घटनाओं का विकास कुछ इस ढंग से हुआ है। पात्र बाह्य उत्तेजनाओं के प्रति कुछ इस ढंग से प्रतिक्रिया तत्पर होते हैं कि उनमें केस हिस्ट्री (Case history) का रंग आ जाता है। यदि आज के युग में टामस हार्डी होते तो निश्चित ही उनकी प्रतिभा ने एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक उपन्यास की रचना की होती। इस उपन्यास की नायिका Sue के सारे जीवन व्यापार एक विशिष्ट ढंग से प्रगटित होते हैं। वह पुरुषों से बहुत घनिष्ठ होकर रहेगी पर उसका सम्बन्ध काम-हीन (sexless) होगा। वह स्वयं तो काम-हीन अवश्य है पर दूसरों की काम-पिपासा को जागृत करने की उसमें अदम्य प्रेरणा होगी। sexless होने पर भी उसमें sex-appeal की अधिकता होगी, उसके प्रत्येक व्यवहार से पुरुष को प्रोत्साहन मिलेगा। पर जब पुरुष प्रणय की विह्वलता में आकर आत्म-समर्पण करेगा या आत्म-समर्पण की माँग करेगा Sue उसे अस्वीकृत कर देगी। इतना ही नहीं, उसके व्यवहार से प्रणयी को जो पीड़ा होगी उसके प्रायश्चित के लिए वह अपने को तरह-तरह से पीड़ित करेगी। यदि मनोवैज्ञानिकों की आत्म-पीड़न-प्रवृत्ति का उदाहरण देखना हो, Masochist पात्रों को देखना हो तो हार्डी की नायिकाओं को छोड़कर अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं। हार्डी के पात्र भी प्रायः दुर्बल, स्नायुहीन, भाग्य के प्रति आत्म-समर्पण करनेवाले हैं। प्रश्न यह है कि हार्डी के सब पात्रों में एक तरह की निर्वीर्यता, कापुरुषता, आक्रमणहीनता क्यों है। लोगों ने इसके कारण हार्डी के व्यक्तित्व में ढूँढ निकाले हैं। श्रीमती हार्डी ने कहा है "Hardys' immaturity was greater than is common for

his years and it may be mentioned here that a clue to much of his character and actions throughout his life is offered by his laleness of development of maturity while mentally precocious. मतलब स्वयं हार्डी में अवस्था के अनुसार शारीरिक परिपक्वता नहीं आई थी। उनकी मानसिक भक्ति का विकास तो समय के पूर्व हो गया था पर उनमें पौरुष का विकास देर से हुआ था। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि अपने उपन्यासों में हार्डी अपनी ही कथा जी रहे थे।

जैनेन्द्र के जितने प्रसिद्ध उपन्यास हैं, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत तथा जितनी महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं, जैसे ग्रामोफोन का रिकार्ड, मास्टर साहब, पानवाला इत्यादि, सबों में घटनाओं का पैटर्न एक ही प्रकार का है। सब पात्र यौनिक दृष्टि से असंगत है, sexually mal-adjusted हैं, सबमें किसी न किसी प्रकार की यौनिक असाधारणता या अपसाधारणता है, वे subnormal हैं या abnormal हैं। उनमें भिन्न लिंगी व्यक्ति के प्रति आकर्षण नहीं है सो बात नहीं। उनमें यौनिक प्रवृत्ति खूब है, वे बड़े उत्साह से नारियों की ओर अग्रसर होते हैं, उनका घेराव करते हैं, Pursue करते हैं। वे बड़े कर्मठ हैं, क्रान्ति दल के नेता हैं, जान ले लेना और जान दे देना उनके लिये खेल है, सरकारी खजाने लूट लेते हैं, ट्रेन उलट देते हैं। यह सब कुछ है पर जब नारियाँ उनके प्रति समर्पण पर आ जाती हैं, सेक्स की चरम तृप्ति का अवसर आता है तो ठीक ऐन मौके पर वे दुम दबाकर भाग जाते हैं। हरिप्रसन्न यही करता है। सुखदा, व्यतीत में भी ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं। त्यागपत्र के जज साहब भी दुम दबाकर भागनेवाले के वर्ग में ही आते हैं। मृणाल को जरूर over sexed रूप में चित्रित किया गया है। पर वह नारी है। सम्भव है उसे इस रूप में चित्रित करने में भी कुछ रहस्य हो।

जयवर्धन अवश्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण उपन्यास है। पर वहाँ पर भी वही वातावरण है। इला और जयवर्धन का वही व्यवहार है जो कल्याणी और प्रीमियर का है, ठंडा, आवेग-हीन, संवेदन-स्पन्दन रहित। इतना ही नहीं, इंद्रमोहन एक व्यक्ति की हत्या करने के लिए चलती ट्रेन में प्रवेश करता है, हाथ में पिस्तौल है। पिस्तौल और शिकार के बीच कुछ भी नहीं है। पर वहां से वह भीगी बिल्ली बनकर निकल आता है। कुछ भी नहीं कर पाता। यहाँ पर भी घटनाओं का पैटर्न वही है, भले ही वह यौनिक स्तर पर न होकर क्रियात्मक स्तर पर हो। पर ढंग वही है—नास्त्यत्र संदेहः। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विश्लेषण खूब किया है।

मतलब यह कि जैनेन्द्र के पात्रों में सब कुछ रहते भी, अकाण्ड ताण्डव, उछलकूद के बावजूद भी पूरी मर्दानगी नहीं है। वे पूर्ण समर्थ potent मानव नहीं जिनकी शिराओं में उष्ण रक्त का प्रबल प्रवाह हो। वे सोचते तो बहुत हैं, लपक-झपक भी कम नहीं करते पर कुछ कर-धर नहीं सकते।

मेरे मन में कई बार प्रश्न उठा है कि ऐसा क्यों है ? अरे, कहीं एक स्थान पर यह विचित्रता होती तो लेखक की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को श्रेय देकर सन्तोष कर लिया जा सकता था। पर बार-बार वही बात। यह तो एक तरह की मनोवैज्ञानिक बाध्यता है, Compulsion है, लाचारी है। लेखक लाचार है, कोई गांठ उसके अन्दर है जो उसे ऐसा करने की बेताबी उसमें उत्पन्न कर देती है। हो न हो, लेखक के व्यक्तित्व में कोई बात है। मेरे मन में कई बार उपन्यास के आधार पर उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अध्ययन की कल्पना जगी है। पर जीवित कवि के आशय को वक्तव्य बनाकर कौन सर पर बला बुलाये। लेखकों के स्पष्ट, ईमानदार तथा साहसिक सहयोग के बिना ऐसा अध्ययन अधूरा भी रहेगा। इस दृष्टि से दिवंगत साहित्यिकों के अध्ययन का मार्ग अधिक प्रशस्त है। दिवंगत व्यक्तियों के बारे में कुछ ऐसी बातें भी उनके मित्र इत्यादि कह सकते हैं जो उनकी जीवितावधि में कहने का साहस नहीं बटोर सकते थे। दूसरे यदि अध्ययन में कोई बेतुकी-सी बातें सामने आ गई जो विश्लेषभिष्यमान व्यक्ति के लिए अशोभनीय-सी हो तो उसे खुलकर कहने में शोधार्थी को उस तरह खतरे में पड़ने का डर नहीं रहता।

मतलब यह कि मनोवैज्ञानिक अभिगम के द्वारा हमें उपन्यासकार के व्यक्तित्व के समझने में सहायता मिल सकती है। जो लोग जैनेद्र को जरा घनिष्ठता से जानते हों वे तो 'मुक्तिबोध' में उनकी घरेलू घटनाओं को भी प्रवेश करते हुए देख सकते हैं। मेरी कल्पना है कि भविष्य में जैनेन्द्र के उपन्यासों में ऐसी घटनाएँ अधिक स्थान पाएँगी।

कथा-साहित्य के प्रति मनोवैज्ञानिक अभिगम के मार्ग से चलकर हम किस तरह कथाकार के व्यक्तित्व तक की झाँकी पा सकते हैं इसकी थोड़ी चर्चा हो गई है। अब हम मनोवैज्ञानिक अभिगम के दूसरे रूप पर आते हैं। इसका दूसरा रूप यह हो सकता है कि मनोविज्ञान के सहारे सृजनात्मक प्रक्रिया तथा पात्रों के जीवन व्यापार को ठीक तरह से समझने तथा समझाने के लिए अधिक समर्थ, पुष्ट, द्योतक, अभिव्यंजन एवं सही यथातथ्य शब्दावली प्राप्त होती है। यह दैनिक अनुभव की बात है कि प्रत्येक विषय की अपनी विशिष्ठ शब्दावली होती है जिसके सहारे ही उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। इतिहास के तथ्यों

अपनी ओर से

जनेन्द्र हिन्दी के बहुचर्चित उपन्यासकारों में हैं और विवादास्पद भी। मैंने इनकी रचनाएँ पढ़ी भी थीं, पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियों तथा उपन्यासों की जो आलोचनाएँ--प्रत्यालोचनाएँ प्रकाशित होती थीं, उन्हें भी बड़ी अभिरुचि से पढ़ा करता था और मन-ही-मन इस उदीयमान नक्षत्र के प्रति श्रद्धा-विन्नत था और सान्निघ्य की कल्पना करता था। पर इनसे प्रथम भेंट कदाचित् १९३६ में हुई थी पटने के दीघाघाट पर, जब ये किसी सम्मेलन या गोष्ठी में भाग लेने के लिए जा रहे थे। श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ने इनका मुझसे परिचय कराया था। बातें क्या हुईं, यह याद नहीं। यही कहानी वगैरा के बारे में बातें हुई होंगी। इतने कम समय में बातें हो ही क्या सकती थीं। पर एक बात मुझे खूब याद है और वह है इनकी वेश-भूषा की सादगी। वह गाँधी का युग था और सादगी तेरा नाम ही गाँधी है (Simplicity thy name is Gandhism) सब लोग अपनी वेश-भूषा में सादगी लाने का प्रयत्न करते थे। पर उस युग में मुझे जितने साहित्यिकों से मिलने का सौभाग्य मिला उनमें जैनेन्द्र में मैंने सबसे अधिक सादगी पाई। आज के जैनेन्द्र की रहन-सहन और पहिरन भी सादी ही है, पर उस समय इनमें ज्यादा सादगी थी। कपड़े तो खद्दर के ही थे, पर बगुले की आँख की तरह लकदक होना उनके लिए आवश्यक नहीं था। कुर्ते के लिए पिंडलियों तक झूलना जरूरी नहीं था। वे कमर तक भी रह कर संतोष कर ले सकते थे और आधी बाँह के भी हों तो कोई परवाह नहीं। जाँघिये से भी काम चल सकता था। जैनेन्द्र नवयुवक थे। मेरे जानते, और मैं अनुभव के बल पर कह सकता हूँ, कि युवावस्था शक्ति का नाम है, वह चाहे भोग की ओर प्रवृत्त हो या योग (त्याग) की ओर। युवक भोग करते हैं जरूर, पर त्याग भी कर सकते हैं। बुढ़ापे में भोग की शक्ति कम होती है तो त्याग की शक्ति का भी उसमें ह्रास हो जाता है। मैं आज के नवयुवकों की बात नहीं कह सकता, पर उस युग में तो यह बात थी। मैं स्वयं अपनी जवानी में जितना त्याग कर सकता था, उतना अब नहीं कर सकता। इस पर मैं मन-ही-मन खिन्न भी रहता हूँ। और यही कारण है कि मैं नवयुवकों को प्यार करता हूँ। वही चिरयुवा जैनेन्द्र मेरे मन में आज भी बैठा है।

को दार्शनिक शब्दावली में अथवा रसायनशास्त्र के तथ्यों को साहित्य की शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । अतः साहित्य के प्रति हम मनोविज्ञान के सहारे पहुँचते हैं तो मनोविज्ञान के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जायेगा । वास्तव में आज साहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है वह अधिकांश पात्रों के चरित्र के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग ही है । पहले आलोचक आदर्श शब्द का प्रयोग करते थे आज मनोविज्ञान ने हमें बताया कि उदात्तीकरण (sublimated) कहो । यथार्थ, रोमांस, आदर्श, चरित्रचित्रण इत्यादि शब्द जो अभी हाल तक कथा-साहित्य की तुला के मापदण्ड बने थे, उन्हें मनोविज्ञान ने अपदस्थ कर दिया है और ईड, ईगो, सुपर ईगो, हीनता की भावना, अपकाय-भावना, स्वपीड़ा, परपीड़ा, आत्मरति इत्यादि, शब्दों को ला बैठाया है ! ज्ञान-विज्ञान के जितने रूप उपलब्ध हैं उनमें मनोविज्ञान सबसे नया है । निश्चय ही उसमें तरुणाई की स्फूर्ति तथा लावण्य है और वह सबको अपनी चमक से मुग्ध कर लेता है । अतः जिस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक शब्दावली की गोद में ढल जाने की जितनी सुविधा हो वह उतना ही मनोवैज्ञानिक होगा ।

देवकीनन्दन अथवा प्रेमचन्द के उपन्यासों एवं कहानियों को आप मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के द्वारा समझाने-समझने का प्रयत्न करें । आप देखेंगे कि इस कार्य के साफल्य में उन उपन्यासों के द्वारा कोई सहयोग नहीं मिलेगा, या प्राप्त भी होगा तो बहुत कम । प्रेमचन्द का पूरे कथा-साहित्य को पढ़ जाने के बाद भी शायद ही कोई शब्द मिले जो मनोविज्ञान में चलते सिक्कों की तरह प्रयोग में आता हो । यदि आप 'कुण्ठा' शब्द को खोजना, प्रेमचन्द के साहित्य में चाहें तो वह शायद ही मिले । पर आज तो शायद ही कोई उपन्यास हो जो 'कुंठित' न हो । यह 'कुंठितत्व' जैनेन्द्र के उपन्यासों से ही प्रारम्भ हो जाता है । 'परख' में भी है, पर 'सुनीता' उपन्यास तो उसी के आधार पर ही खड़ा है । मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' में कथा का अंश प्रेमचन्द से कम नहीं है पर मनोवैज्ञानिक शब्दावलियों का इतना आश्रय लिया गया है कि पाठक को मनोवैज्ञानिक प्रभाव का देख लेने में जरा भी कठिनाई नहीं होती ।

अब जरा इस दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यास पर विचार करें । मनोविज्ञान में एक शब्द बहुत प्रचलित है pervert जिसे हम हिन्दी में विपर्यस्त कहेंगे । पुरुष और नारी के ऐन्द्रिय सम्पर्क से काम तृप्त होता है, यह स्वाभाविक बात है । पर कुछ लोगों की कामतृप्ति इस प्रशस्त मार्ग का परित्याग कर अपने लिए एक पगडंडी निकाल लेती है । ये लोग कामाधार तथा (Sexual object)) काम-

लक्ष्य दोनों में थोड़ा परिवर्तन कर लेते हैं। काम में साधारणतः आधार के रूप में विपरीत लिङ्गी व्यक्ति का अंग-विशेष ग्रहण किया जाता है और लक्ष्य है तद्स्पर्शजनित सुख से अपने आन्तरिक तनाव से मुक्ति। पर कुछ लोग होते हैं जो इन दोनों में थोड़ा परिवर्तन कर लेते हैं। उदाहरणार्थ कुछ लोगों को किसी नारी के एक वस्त्रखंड अथवा उसके अलकों के एक गुच्छे से ही तृप्ति हो जाती है और कुछ लोग होते हैं जिन्हें चुम्बन आलिंगन से आगे बढ़ने की जरूरत महसूस नहीं होती। कुछ नारियाँ तो पुरुषों द्वारा हंटर से पीटे जाने से ही कामतृप्ति लाभ करती हैं। कुछ पुरुष नारियों से पिन चुभवाकर ही तृप्त होते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों में इस तरह की पर्यस्तता के उदाहरण मिल जायेंगे।

आधार विकृति की बात पहिले लीजिये। इस पर विचार करते ही जैनेन्द्र के सुनीता नामक उपन्यास की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इसका एक पात्र है हरिप्रसन्न। उसके चरित्र का चित्रण जिस तरह से प्राम्रभ हुआ है उससे स्पष्ट है कि उसके जीवन का विकास स्वाभाविक गति से नहीं हो सका है। वह अविवाहित है तथा क्रान्तिकारी। उसके मित्र श्रीकान्त के शब्दों में "हरी की आत्मा में कहीं गाँठ पड़ी है कि वह अतर्क्य हो जाता है······वह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है। वह अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर सुनीता को अन्धकारमय निशीथ वेला में सूने जंगल में अपने दल वालों के सम्मुख स्फूर्ति प्रदायिनी मायारानी देवी चौधरानी बनाकर ले जाता है। वहाँ पर उसका जो व्यवहार होता है उसे देखकर किसी को भी संदेह नहीं रह जाता कि वह एक आधार विकृत विपर्यस्त (Sexual pervert) है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी काम तृप्ति अपनी चरितार्थता के लिये नारी शरीर को संपूर्ण रूप से माँग करने की अदम्य व्याकुलता से पीड़ित है। सुनीता खुले पत्थर पर सोई हुई है। उसका विनिद्रित और संपुटित मुख चाँदनी में खिल उठा है। हरिप्रसन्न उसकी अँगुलियों को चूम लेता है। वहाँ के कुछ दृश्य देखिये, कुछ वार्तालापों का अंश सुनिये और इन सब बातों के आलोक में विचार कीजिये कि हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में कही गयी विपर्यस्तता (Perversion) की बात कहाँ तक ठीक है ?

सुनीता : तुम क्या चाहते हो हरी बाबू !

हरिप्रसन्न : क्या चाहता हूँ। तुम पूछोगी क्या चाहता हूँ, तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ !

उसके बाद सुनीता निरावरण हो जाती है, साड़ी उतार फेंकती है, शरीर से चिपट कर सटी हुई बाँडी को फाड़ देती है और दिगम्बरप्राय अवस्था में

कहती है, "मैं तो तुम्हारे सामने हूँ, इन्कार कब करती हूँ। लेकिन अपने को मारो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो तो ले लो"। परन्तु हरिप्रसन्न की हिम्मत नहीं होती और वह शान्त चुप बैठा रहता है।

यहाँ इस प्रश्न को लेकर थोड़ी-सी शंका का अवसर हो सकता है कि उसको किस श्रेणी में रक्खा जाय, विकृताधार की श्रेणी अथवा विकृत लक्ष्य की श्रेणी में। पर इतना अवश्य है कि उसमें दमित काम की प्रवलता जनित उद्वेग है, उसमें कुछ विपर्यस्तता की मात्रा है। उसके जितने व्यापार होते हैं, विशेपतः सुनीता को जंगल में ले जाने के लिये प्रोत्साहित करनेवाले पड्यन्त्र सम्वन्धी व्यापार, वे सव मानो उसकी अनजान में अचेतनावस्था में घटित होते से दीखते हैं। उसका चेतन मस्तिष्क भले ही यह समझता हो कि सुनीता को वह अपने दल के आकांक्षी वालकों की स्फूर्ति, प्रेरणा और मदद देनेवाली मायारानी के रूप में ले जाना चाहता है, पर उसका अचेतन उसे दूसरे व्यापार के लिए ही प्रेरित कर रहा था जिसमें प्रधान स्थान काम वासना का है जो टेढ़ी-मेढ़ी राह से अपनी तृप्ति चाह रही थी। जिस ढंग से उपन्यास में सुनीता के वन में जाने की घटना का वर्णन हुआ है उसके अर्थ में किसी प्रकार की दुविधा नहीं।

हरिप्रसन्न लाल रोशनी को देखकर समझ लेता है कि वहाँ खतरा है, दल के लोग पकड़ लिये गये होंगे। पर मनोवैज्ञानिक वात तो दूसरी ही थी। हरिप्रसन्न के मनोविज्ञान की ओर देखने पर यही मालूम पड़ेगा कि वहाँ पर लाल रोशनी वगैरह कुछ नहीं थी। हरिप्रसन्न के अचैतन्यावस्था ने रोशनी देख ली थी। रोशनी का निर्माण उसके अन्तर्मन की एक क्रिया थी, कारण कि यह उसकी अभीष्ट-सिद्धि में सहायक होती थी। जिस तरह हिस्टिरियाग्रस्त या सम्मोहित व्यक्ति अनेक कार्य करते हैं या दृश्य देखते हैं जिनका उन्हें स्वयं ज्ञान नहीं होता, उसी तरह हरिप्रसन्न का अन्तर्मन ऐसे वातावरण की सृष्टि कर रहा है जिसमें सम्पूर्ण नारी शरीर पर एकाधिकार प्राप्त करने की वासना की तृप्ति हो सके। पर फिर भी वह इन व्यापारों से अनभिज्ञ है। वह एक ऐसी शक्ति से परिचालित हो रहा है जो उसकी एकदम अपनी है, इतनी अपनी कि उसका उसे ज्ञान भी नहीं है, अर्थात् वह अपनी अज्ञात चेतना के हाथों पड़ स्वचालित यन्त्र की तरह अपनी लक्ष्य सिद्धि कर रहा है।

हरिप्रसन्न की लक्ष्य सिद्धि किसमें है? नारी के सम्पूर्ण शरीर पर एकाधिपत्य में, एक विशेप अंग मात्र पर ही नहीं। वह इसी भावना से परिचालित है, जिसका प्रमाण उसके मुख से निकले उन वाक्यों से मिलता है जो उसने

श्रीकांत के आतिथेय काल में जब तब सुनीता को कहे हैं। एक स्थान पर वह कहता है "अभी तो यों ही चलता है। लेकिन वहाँ तुम्हारे लिये काम होगा। वह काम तुम्हें सबकी सबको चाहेगा। कहो अपना सब आपा उसे दोगी!"

एक स्थान पर वह बोल उठता है "ठहरो भाभी, मैं इसलिये विवाह नहीं करता कि मैं पत्नी नहीं चाहता। मैं सब कुछ चाहता हूँ सब कुछ। मुझे चाहिये महोत्सर्ग"।

सारे उपन्यास में यत्रतत्र ऐसे भावोद्गार भरे पड़े हैं। हरिप्रसन्न जब सुनीता के पूर्ण शरीर का दर्शन कर लेता है तो उसे एक अपार और गम्भीर तृप्ति की पुलकानुभूति होती है जिसका वर्णन उपन्यासकार के शब्दों में यों है:

"हरिप्रसन्न ज्यादा दूर नहीं था। वह बैठा था। वह परास्त था, पुचकारा-सा शान्त था। ठोडी उसकी हथेली पर टिकी थी और कोहिनी जाँघ पर। वह मानो इस अनबूझ विश्व ग्रन्थ में उलट गये एक अर्द्ध-विराम के चिह्न की भाँति वहाँ बैठा था, मानो निखिल प्रवाह के बीच क्षण की एक चुप को चिह्नित करने के लिये ही वह है, अन्यथा वह कुछ नहीं है। मात्र एक काली बूंद है"।

इस वर्णन को पढ़कर रतिश्रांत और आनन्द तृप्त व्यक्ति का तन्द्रालस चित्र उपस्थित होता है। फ्रायड ने बालक की काम भावना के विकास की प्रथमावस्था को ओरल स्टेज (Oral Stage) कहा है। जिस समय वह माँ का स्तन पान करता है, सेक्स की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। फ्रायड का कथन है कि दुग्ध पान से तृप्त बालक जब माँ की गोद में विश्राम करता है तो उसकी मुद्रा में उसी गम्भीर सन्तोष की झलक पाई जाती है जिसका दर्शन वयःप्राप्त मानव की काम तृप्ति की अलसाई मुद्रा में पाया जाता है। हरिप्रसन्न की जिस मुद्रा का यहाँ चित्रण किया गया है उसमें एक ओर रति-तृप्त, काम-तृप्त व्यक्ति की मुद्रा में कितना साम्य है ?*

कथा-साहित्य का अधिकांश प्रेम की चर्चा से परिपूर्ण है। चाहे युद्ध की कथा हो, अर्थ और परमार्थ का प्रसंग हो, राजनैतिक चक्करों का विश्लेषण हो, पर उन सबों के बीच में प्रणय की एक छोटी-सी कथा अवश्य होगी। इस प्रणय-व्यापार में मनोविश्लेषणवादियों ने एक विचित्रता का उल्लेख किया है कि कुछ लोगों के प्रणय-निर्वाचिन में (Choice of love-object) में असाधारणता होती है। कुछ व्यक्ति कुमारी तथा सर्वप्रकारेण अनुगता पत्नी के प्रति प्रेम के

---

*......As it sinks asleep at the breast, utterly satisfied, it bears.

स्वाभाविक इच्छा होती है। पर श्रीकान्त की इच्छा इतनी ही भर नहीं है। वह हरिप्रसन्न की विरक्ति को संसारानुरक्ति में परिणत करने के लिए अपनी धर्म-पत्नी सुनीता को ही शिखंडी के रूप में प्रयोग करना चाहता है। वह प्रारंभ से ही ऐसा व्यवहार कर रहा है जिससे पाठक के मन में धारणा बँधती है कि सुनीता के प्रति हरिप्रसन्न में प्रेम की भावना कम है। जब वह हरिप्रसन्न को बुलाने के लिये पुराने पते पर पत्र लिखता है तो साथ में सुनीता की तस्वीर देना भी नहीं भूलता।

कोई बात जो कभी श्रीकान्त के मुख से निकल जाती हैं उनके महत्त्व को कोई भी मनोवैज्ञानिक अंकित किये बिना नहीं रह सकता। श्रीकान्त का यह रहस्यपूर्ण मनोविज्ञान उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जिस समय हरिप्रसन्न के आ जाने पर, सुनीता और सत्या से परिचित हो जाने पर किसी मुकदमे की पैरवी करने के बहाने वह दिल्ली छोड़ दो-चार दिन कानपुर चला जाता है। हाँ, बहाना ही करके कहूँगा, कारण कि जिस हल्के-फुलके ढङ्ग से उपन्यास में इस घटना का उल्लेख हुआ है उससे तुरन्त यह शंका उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि श्रीकान्त जानबूझ कर सुनीता और हरिप्रसन्न को पारस्परिक निकट-वर्तित्व प्राप्त करने का अवसर देने के लिये ही चला गया है। कानपुर गया तो था दो-तीन दिन के लिये ही, पर वहाँ जाकर अपने प्रवास की अवधि में वृद्धि कर देता है और वहाँ से सुनीता के पास जो पत्र लिखता है वह इतना स्पष्ट और आत्माभिव्यंजक है कि उस पर किसी तरह की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। पत्र के कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिये और फ्रायडियन मनोविज्ञान के मेल में लाकर विचार कर देखिये। देखिये कि आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता, नीड ऑफ इन्जर्ड थर्ड पार्टी (Need of injured third party) वाली मनोवृत्ति मिलती है या नहीं।

"प्रिय सुनी ! मैं अभी चार-पाँच रोज यहीं रहूँगा। अदालत का काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मैं रहने के लिये चार-पाँच रोज रहूँगा। हरिप्रसन्न वहाँ होगा ही। उसको किसी तरह की बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारे में जो बातें मेरे मन में उठती हैं वह मैं कह नहीं सकता······तुमसे कहता हूँ। उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती ही हो। जानती हो कि मैं तुम्हें गलत नहीं समझता। जब तुमसे कहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिये मेरे ख्याल को अपने से बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिये मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा······तुम इतने दिनों के लिये अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना।

यह समझना कि मैं हूँ नहीं......उसको मार्ग देने के लिये हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं।" हरिप्रसन्न के पास जो यह पत्र लिखता है उसमें इतना उल्लेख करना नहीं भूलता कि "ऐसा न हो कि अपनी भाभी का लिहाज कर घर में किसी तरह की तकलीफ पावो। वह ऐसी तो नहीं है फिर भी"...... पंक्तियों में श्रीकान्त का अन्तर्मन अपनी कथा स्वयं कह रहा है।

पाठक की धारणा और भी दृढ़ हो जाती है जब वह देखता है कि कानपुर से लौट आने पर श्रीकान्त को घर की ऋतु में एक विचित्र आनन्दप्रद परिवर्तन का आभास मिलने लगता है। श्रीकान्त अब सुनीता से कटाकटा नहीं रहता। वह अधिक सरस हो उठा है। सुनीता उसके लिये अधिक स्पृहणीय, काम्य और प्यारी बन गई है। कानपुर से प्रत्यागमन के पश्चात् श्रीकान्त का अणु-अणु रसोद्वेलित हो उठता है, वह अपने अन्तःकरण को सुनीता के लिये एक बहुत सशक्त, आकर्षक, बेताबी और प्रेरणा की सर्वग्राही अनुभूति से अभिभूत पाता है। वह बुहारी में लगी सुनीता को उठाकर अपने आलिंगन पाश में बाँध लेना चाहता है। इस व्यवहार से सुनीता के चेहरे पर नववधू-सा भाव आ जाता है और वह कहती है, "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः-छिः मेरे लिये यह प्रेम का आवेग कैसा? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो? मुझे पहले सम्भलने तो दो।" कहाँ हरिप्रसन्न के प्रवेश के पहिले निरानन्द और अलग जड़ता से पूर्ण, दम घुट-घुट कर रह जाने वाला गार्हस्थ्य जीवन और कहाँ यह प्रसन्न-प्रवाह सागर की लहरें? दोनों में कितना अन्तर है? यदि पाठक चौंककर पूछे कि इस महान् अन्तर को उपस्थित करने वाला कौन-सा जादू है तो क्या अनुचित है?

जो चीज सुनीता और श्रीकान्त में बाधक रूप से अवस्थित थी वह मानो हट गई और प्रेम का प्रवाह एक प्रशस्त मार्ग से उमड़ चला। फ्रायड ने इसी श्रेणी के व्यक्तियों को अर्थात् जिनके प्रेमानभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिये एक आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता होती है, उनके सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेमानुभूति की इस शर्त की माँग तो कुछ व्यक्तियों में कभी-कभी इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि सम्पर्क में रहने वाली नारी को तब तक अवहेलना ही नहीं; कटु तिरस्कार का भाजन होना पड़ता है जब तक वह किसी न किसी रूप में ही सही किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं हो जाती। पर ज्योंही वह किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्वित हो जाती है कि सारा वातावरण ही बदल जाता है और उसमें प्रेम के आलम्बनत्व धर्म की स्थापना हो जाती है। सुनीता जब तक हरिप्रसन्न से सम्बद्ध नहीं थी श्रीकांत के लिये अस्पृहणीय, उपेक्षणीय और अकाम्य थी पर उसके सम्पर्क में

आते ही और उससे सम्बन्धित होते ही सब कुछ हो जाती है, आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। इतना ही नहीं, श्रीकान्त ही सुनीता और अपने बीच में तृतीय पक्ष के प्रवेश कराने का कारण भी होता है जिस पर आघात करके तृतीय पक्ष को आहत करने की अज्ञात भावना को सन्तुष्ट कर सके।

अपनी बातों का समर्थन करने के लिये हम थोड़ा पीछे और मुड़कर देखेंगे। कारण कि इतनी चर्चा हो जाने के बाद थोड़ा मनोवैज्ञानिक आलोक हाथ में आ जाने के बाद चित्र की स्पष्टता में सहायता मिलेगी। हरिप्रसन्न परिवार में आ गया है। परिवार में थोड़ा हिलमिल भी गया है। पर सुनीता का धड़क नहीं खुला है, वह उससे अभी भी संकोच करती है, खुलकर बात नहीं करती। यह रुखाई श्रीकान्त को प्रीतिकर नहीं लगती। पर एक बार जब वह खुलकर थोड़ी बातें कर लेती है तो उसे अपार अन्तोष होता है। श्रीकान्त को बिना बीच में लिये ही हरिप्रसन्न की सुनीता के साथ इतनी बातें हो गईं, कहें कि श्रीकान्त को अच्छा ही लगा। उसने देखा कि सुनीता वाक् शून्य नहीं है, वह भली प्रकार सवाल जवाब भी कर लेती है और न वह रूखी और फीकी ही है। वह अपनी बात में रस ले सकती है और दे भी सकती है। यह अनुभव श्रीकांत को जैसे बहुत दिन बाद हुआ और नवीन लगा। यह भी कहें कि यह अनुभव उसे प्रिय लगा। उसे लगा कि जीवन नीरस रहे, यह आवश्यक नहीं है। यह कि सचमुच हरियाली उसके बीच में से बिलकुल निर्मूल नहीं हो गई है। हरिप्रसन्न का अस्तित्व श्रीकान्त की मनोवृति में है जो रसानुकूल परिवर्तन कर देता है। उसकी विवृति फ्रायड मनोविज्ञान के द्वारा सहज ही प्राप्य है।

"......In some cases this condition is so peremptory that a given woman can be ignored or even treated with contempt so long as she belongs to no other man but instantly becomes the object of feelings of love as soon as she comes into relationship of the kind described."

कथा-साहित्य के प्रति मनोवैज्ञानिक अभिगम की द्वितीय विधि अर्थात् सृजन के पीछे वर्तमान प्रेरणा की चर्चा थोड़ी बहुत हो चुकी। अब उसके तृतीय रूप की ओर आते हैं जिसमें उपन्यास के पात्रों के व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तव में यह विभाजन सर्वथा एकान्तिक नहीं है। अध्ययन के सारे रूप इस तरह आपस में मिले-जुले रहते हैं कि उन्हें पृथक करना कठिन है। आगे की पंक्तियों में इस विषय पर कुछ विचार प्रकट किये जा रहे हैं। पर इस विषय पर किंचित् विस्तृत तब होगा जब प्रत्येक उपन्यास पर अलग से चर्चा करेंगे। मनोविज्ञान के नाम पर अधिकतर फ्रायड द्वारा

प्रतिपादित सिद्धान्तों से ही लोग परिचित हैं और यह निश्चित है कि फ्रायड का भी प्रभाव जैनेन्द्र के उपन्यासों पर है। पर मैंने जहाँ तक समझा है, जैनेन्द्र में सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान की झलक अधिक स्पष्ट है और वही बात मैं कहने जा रहा हूँ।

जैनेन्द्र की कथाओं में हम फ्रायड का भी प्रभाव कम नहीं पाते। उनके सब पात्रों में कुण्ठा है, दमन (Repression) है, असाधारणता है, कुछ मनो-विकृति है, काम-भाव (Sex) दमनोत्पन्न अनेक विशेषताएँ हैं।

'परख' में बिहारी और कट्टो की दमित काम वासना के उदात्तीकृतरूप (Sublimation) की बात स्पष्ट है। कोई उपन्यास नहीं जिसमें यह दमन-जनित मृदु या भयंकर विस्फोट न दिखलाया गया हो। उनकी कहानियों में 'एक रात', 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'मास्टर साहब', 'पत्नी', 'पानवाला', 'बिट्रीस' इसके प्रमाण हैं। 'ध्रुवयात्रा' नामक कहानी में तो फ्रायड के मुक्त आसंग (Free Association) वाली पद्धति का आधार ही लिया गया है। उनके प्रत्येक उपन्यास में अचेतन अहं (Ego) और अचेतन (Id) का घात प्रतिघात चलता ही रहता है। प्रत्येक के घर में (Ego) और बाहर (Id) की आकांक्षा है, पुकार है और 'घर' 'बाहर' के प्रति आत्म समर्पण करने के लिए विवश है। सुसम्य और संस्कृति में पली पत्नी सुनीता का हरिप्रसन्न के प्रति समर्पण, 'त्यागपत्र' की मृणाल का कोयलेवाले का साथ देना, कल्याणी का अपने पति से उन्मन उन्मन रहना, किसी के प्रति समर्पित होने की वेदना लिये भी कुलीन गाँधीवादी, देश के लिये अपनी निजता को भी खो देने वाले प्रीमियर के लिये अदम्य आकर्षण की अनुभूति के होते भी कल्याणी का समर्पण तक न पहुँचना, सुखदा की दृढ़ मर्यादा-बुद्धि का लाल के सामने हार मान जाना, 'विवर्त' में मोहिनी का जितेन के सामने परास्त हो जाना, 'व्यतीत' में व्याहता अनिता का एक ही दिन पहले, 'क्रूर पापी खबरदार जो मुझे छुआ।' 'कह कर दो तमाचे लगाने पर भी दूसरे दिन जयन्त से कहना', 'जयन्त रात की बात भूल जाओ, मैं सुध में न थी। अब सुध में हूँ, कहती हूँ मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को चाहे जिस विध चाहे ले सकते हो।' ये सब प्रकारान्तर से प्रतीक के रूप में (Ego) और (Id) के संघर्ष तथा (Id) की विजय की ही कहानी है।

जैनेन्द्र की एक कहानी है 'तत्सत्'। दो शिकारी किसी दिन एक जंगल में विश्राम करते आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने कहा "ओह कैसा भयानक जंगल है।" प्रश्न उपस्थित हो गया कि यह जंगल नामक कौन-सा पदार्थ है। अन्त में एक शिकारी वट वृक्ष से सलाह लेकर उसकी सबसे ऊपर वाली

फुनगी पर चढ़ गया और उसे बड़े प्रेम से पुचकारा। देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उद्ग्रीव हुई मानो उसमें चैतन्य भर आया हो। मानो वे चमक से चमक आये हों, जैसे उन्होंने खंड को कुल में देख लिया हो कि कुल कहाँ और खंड कहाँ। अब बड़ दादा जगे, मानो अभ्यन्तर से कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो। वातावरण के मौन को भंग करते बोले "वह है" सब साथी चकरा गये।

"दादा, दादा"

"दादा ने इतना ही कहा "वह है, वह है"

"कहाँ, कहाँ है, कहाँ है"

"सब कहीं है, सब कहीं है"

"और हम ?"

"हम नहीं है, वह है"

इस कहानी की अवतारणा ही इसलिए की गई है कि छोटी-सी कथा के द्वारा खण्ड के पूर्व सम्पूर्ण के अस्तित्व का समर्थन किया जाय। यह जरूरी है कि जैनेन्द्र में भारतीय अद्वैतवादी दृष्टिकोण ने इसमें वेदान्त का पुट दे दिया है। पर इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक गेस्टाल्टवाद मनोविज्ञान के शब्दों में इस कहानी को समझा समझाया जा सकता है। यह कहानी कहती है कि बड़ पीछे है, वन पहिले है। बड़, बबूल, सीसम, बाघ, चीते इत्यादि पीछे हैं, वन ही है, अन्य चीजें नहीं हैं। जो भी वन को लेकर ही है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का भी तो यही कहना है कि सम्पूर्ण आकृति पहिले है अन्य रेखायें बाद में। आप इस तरह के तीन .˙. बिन्दुओं को देखिये। क्या आप एक रहस्यमय ढंग से एक पूरे त्रिकोण को नहीं देख रहे हैं ? क्या आपकी कल्पना तड़क कर रिक्त स्थान को भर नहीं देती ? क्या एक त्रिकोण की सम्पूर्ण आकृति अपनी सम्पूर्णता के साथ आपके सामने पहिले ही उपस्थित नहीं हो जाती ?

जैनेन्द्र जी का दूसरा कहानी संग्रह है 'जयसंधि'। इस संग्रह में एक कहानी है 'जयसंधि' जिसके आधार पर इस संग्रह का नामकरण हुआ है, यह एक राजनैतिक कहानी-सी लगती है। इसमें यशोविजय के राष्ट्रीय संघ बनाने की महत्वाकांक्षा, राष्ट्र के छोटे-छोटे भिन्न-भिन्न टुकड़ों को एक महाराष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिए किये गए उद्योगों का वर्णन है, पर फिर भी लेखक का दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट है। यहाँ पर वह सम्पूर्ण और खण्ड की ही बातें कहता है और यह बतलाने में प्रयत्नशील है कि पूर्णता के सामने खण्ड का कोई महत्व नहीं। पूर्णता ही सत्य है और खण्ड मिथ्या। पूर्णता की ओर ही हमारी प्रकृति अनिवार्य रूप से उन्मुख होती है। यहाँ तक कि पूर्णता की राह में बाधा-

इस जैनेन्द्र के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ी और मैंने जब-तब, उस जमाने में, कुछ लिख-लिखा कर उनके प्रति अपने भाव प्रगट किये। भाव क्या प्रगट किये, बस, समझ लीजिये :

जिनकी पदनख ज्योति ने इन हीरक जाल लजाये,
उन चरणों पर मैंने आँसू दो चार चढ़ाये।

मैंने कल्पना की थी कि जैनेन्द्र पर कोई पुस्तक ही लिखूँगा। पर बीच में आ गया मनोविज्ञान। न जाने क्यों और कैसे, मनोविज्ञान के प्रति मेरी दिलचस्पी बढ़ी। आप जानते ही हैं, मनोविज्ञान मनुष्य को सूक्ष्मदर्शी, अन्तर्दर्शी, और न जाने क्या-क्या बना देता है—कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिलता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि सब बाह्य क्रिया-कलापों, वस्तु-जालों तथा घटनाओं की बाह्य रूपाकृति से ही सन्तोष नहीं कर लेती, अपितु उस रूप को देखना चाहती है जो छिपा है और जिसके ये प्रतीक हैं। विशेषतः आज के जटिल युग में तो कोई चीज विशुद्ध रह नहीं गई। आज adulteration का युग है। वह केवल खाद्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है। वह जीवन के ओर-छोर में परिव्याप्त हो गया है। भला यही कहिये, आपको दिया जाता है कागज का एक टुकड़ा और आप आँख मूँद कर मान लेते हैं कि वह एक लाख रुपया है।

यह क्यों कर संभव है? इसीलिए न कि आपकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक है। कागज का टुकड़ा असत्य है, पर उसके पीछे छिपा रहने वाला तथ्य ही सत्य है। यह तो कहिये कि कागज का बाह्य रूप उतना प्रिय नहीं उसका आन्तरिक रूप ही प्रिय है, अतः ग्राह्य अधिक है, उसकी स्वीकृति आनन्ददायक है। पर यह भी सम्भव है कि ऊपर अमृत हो, नीचे विष—'मधुतिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदये तु हलाहलम्।' मनोवैज्ञानिक किसी बाह्य रूपों से संतुष्ट नहीं होते; वे मूलतः lie detector होते हैं, मिथ्याभेदी। अतः जब मैं अपने ऊपर मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालने लगा तो दो बातें सामने आईं। प्रथमतः तो, मैं जो ऊपर से दीखता हूँ, अन्दर से वह नहीं हूँ। अर्थात्, एक प्रोफेसर—जैसे गुरु-गम्भीर पद पर आसीन हूँ पर वह प्रोफेसरी हमारे रक्त का अंग नहीं बन सकी है। जवानी के दिनों में मैंने प्रोफेसर होने का स्वप्न देखा था। पर वह प्रोफेसर एक दूसरी तरह का था। हमारी कल्पना का प्रोफेसर ज्ञान का समुद्र था, वह कम बोलता था; पर जो कुछ भी बोलता था वही साहित्य होता था। विद्वत्ता उससे इस तरह अनायास निकलती थी जिस तरह पुष्प से सुगन्ध निस्सृत होती है। पर आज परिस्थिति यह है कि मेरी प्रोफेसरी मुझे ऊपर से बैठी दबोचे रहती है, सहज नहीं होने देती; अपने आन्तरिक खोखलेपन को छिपाने के लिए इतना

सी लगने वाली शक्तियों की अवस्थिति भी इसलिए है कि वह हमें अन्दर से उभारती रहे और लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो, जो होकर ही रहती है।

किसी लेखक का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं द्वारा हो रही है यह बात जानने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है। इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि कलाकृति में भोक्ता की सीधी अनुभूति अवतरित नहीं होती, परन्तु उसमें स्रष्टा की भावित अनुभूति का ही सन्निवेश रहता है। अतः रचना में किसी भाव या दृष्टिकोण की झलक पाकर बिना अन्य आनुषंगिक बातों पर विचार किए लेखक के दृष्टिकोण का निर्णय कर लेना समीचीन नहीं होगा। हो सकता है कि रचना में लेखक की इच्छा पूर्ति (Wish fulfilment) हो। यह भी असम्भव नहीं कि उसके वास्तविक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो, पर साथ ही यह भी सम्भव है कि उसकी रचना में ठीक उन्हीं बातों का उल्लेख हो जिनके प्रति उसके हृदय में कुछ दिलचस्पी नहीं। उदाहरण के लिए, बहुत से लेखकों का नाम लिया जा सकता है जिनके हृदय में वैभव के लिए, धन के लिए मोह है, वे अपने हृदय की तह में पूंजीपति बनने की महत्वाकाँक्षा पोसे हुए हैं पर उनकी रचना देखिये तो उसमें पूंजीवाद को भस्म कर देने वाली भट्टी जल रही है। ऐसी सूरत में प्रश्न होता है कि लेखक के वास्तविक दृष्टिकोण का पता कैसे चले। मीमांसा शास्त्र में तात्पर्य निर्णय के कुछ सिद्धान्त बतलाये गये हैं :

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्
अर्थवादोपपत्ती च लिंगम् तात्पर्यनिर्णये

अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, पुनरुक्ति, नवीनता, फल, अर्थवाद तथा खण्डन-मंडन देखकर ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय करना चाहिये। ये बातें ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय में भले ही कुछ सहायता दे लें, पर ग्रंथकार के सच्चे व्यक्तित्व को दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकती। सम्भव है जिन बातों की अभिव्यक्ति की गई हो वे लेखक की बाहरी आस्था की उत्पत्ति हो, बाहरी परिस्थिति की उपज हो। मसलन किसी बाहरी आर्थिक या सामाजिक दबाव में पड़कर लिखी गई हों, हृदय की वृत्ति से उनका कोई सम्बन्ध न हो। लेखक किसी विचारधारा से सहमत न हो, पर चूंकि वह किसी सरकारी पद पर नियुक्त है और सरकार चाहती है कि उस विचारधारा का जनता में प्रचार हो, ऐसी अवस्था में लेखक को अपनी रुचि के विरुद्ध भी उनके समर्थन में अपनी प्रतिभा प्रेरित करनी पड़ेगी। तब लेखक की हृदयान्तर वर्तिनी धार का पता कैसे चले ?

रस्किन ने अपनी पुस्तक Modern Painters में चित्रकला पर विचार

करते समय इस प्रश्न को छेड़ा है। उसने कहा है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कलाकार को अपने विषय निर्वाचन की स्वतन्त्रता नहीं होती, उसको दूसरों के संकेत पर कला के उपजीव्य को चुनना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में कलाकार की दिलचस्पी को ध्यान से देखा जाना चाहिये। कल्पना कीजिये कि किसी मठाधीश ने किसी कलाकार को आज्ञा दी कि तुम उस दृष्य का चित्रण करो जिसमें मागडलिन ईसामसीह का चरणोदक ले रही है। देखते हैं कि मागडलिन का चित्र सुन्दरता से अंकित किया गया है पर उनकी मुखमुद्रा से कृतज्ञता की छवि अंकित नहीं होती। यह चित्र किसी भी सेविका का हो सकता है जो अपने स्वामी के चरणों को पखारने के लिए जल पात्र लाकर रख देती हो। हम शीघ्र ही निर्णय कर लेंगे कि कलाकार के व्यक्तित्व में धर्मप्रवणता तथा आध्यात्मिकता का अभाव है। दूसरी ओर ऐसे भी चित्र मिल सकते हैं जो किसी की बाध्यता के कारण विलास और वैभव का चित्रण कर रहे हों, पर उनके अनजान में ही चित्र में दो एक कूचियाँ चल गई हों जिनसे अध्यात्म के प्रकाश फूटते हों। हम तुरन्त ताड़ लेंगे कि कलाकार किसी बाध्यता के कारण साँसारिक वातावरण में ही घूमने के लिए भले ही चला आया हो, पर वास्तव में उसका मन यहाँ उड़ा-उड़ा ही रहता है। वह है असल में अध्यात्मलोक का निवासी। उसी तरह जैनेन्द्र की कहानियों से वही धारणा मन में बैठती है कि लेखक चाहे आर्थिक समस्या की बातें करता हो, चाहे सामाजिक, नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक। पर सबके बीच कुछ पंक्तियाँ निकल आई हैं जिनसे गेस्टाल्टवादी व्यंग-ध्वनि स्पष्ट हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को किन्हीं कारणों से वहाँ जाने की बाध्यता आ पड़ी हो, पर उसका मन आज भी शीतल मन्द समीर व जमुना के तीर के लिए लालायित हो। एक कहानी है 'उपलब्धि' जैनियों में एक सम्प्रदाय के साधु होते हैं जो शरीर को कृच्छ्र साधना में रत रखना ही और साधना द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति को नष्ट करना ही श्रेयस्कर समझते हैं, में एक ऐसे ही राजदास की चर्चा है... एक कुत्ता इनके शरीर को अपने पैने दांतों से क्षत-विक्षत कर देता है पर इनके चित्र में तो भी इसके लिये प्यार ही भरा रहता है उनकी मृत्यु हो जाती है। उन्हें अपनी मृत्यु से चरम तृप्ति मालूम पड़ती है। अपने दूर किसी भी वस्तु पाने की आवश्यकता उनमें शेष नहीं रह गई, मानो जो कुछ है वह इनके भीतर ही भरपूर है...एक प्रकार कृत-कामना उनके समस्त अंगों में परिव्याप्त थी। उस दिन अन्त मुहूर्त में उन्होंने पा लिया कि वह साध्य क्या है जिसे पाना है और उसके साधन क्या हैं जिसके द्वारा पाना है। वे दो नहीं, एक है। इस

कहानी की अंतिम पंक्तियों को लेखक के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में किसी को भ्रम नहीं हो सकता।

कहानियों में फ्रायड-मनोविज्ञान का भी प्रभाव है पर चूंकि जैनेन्द्र का आस्तिक और विश्वासी तथा चिन्मय तत्व को ढूंढने वाला हृदय फ्रायडियन अतिवादिताओं में आस्थापन नहीं है। अतः वह जहाज के पंछी की तरह घूम घूमकर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। यह निश्चित है कि आधुनिक मनोविज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में गेस्टाल्ट की भूमि ही ऐसी है जहाँ भारतीय संस्कृति और विचारधारा यूरोपियन विचारधारा से मेल खा सकती है। जैनेन्द्र की प्रतिभा सहज भाव से अपनी कथाओं में इस गेस्टाल्टवादी सिद्धान्त को अपना सकी है। इस संग्रह की एक कहानी लीजिये 'सोद्देश्य'। यह कहानी वीणा और निसार की प्रणयाकर्षण की कहानी है, पुरुष और स्त्री का यौन आकर्षण कला और काव्य चर्चा के आवरण में किस प्रकार आता है, इसका वर्णन है, पर कहानी का अन्त जिस ढंग से होता है वह पुकार-पुकार कर कह देता है कि लेखक की भावभूमि क्या है? उसने कविता के कागज को अपने होठों से ही लगाकर अपने ही आँसू से पी लिया है। उसे लग रहा था कि कविता में शब्द नहीं है, छंद नहीं है, अर्थ नहीं है, उन सबके पार कुछ है जिससे छुटकारा नहीं मिल सकता है। इन पंक्तियों द्वारा लेखक का, या यों कहिये लेखक निबद्ध-पात्र का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि वह सच्चाई का घटकावयवों के निर्जीव योगफल के रूप में नहीं देखता है पर विश्वास करता है कि अंशों के योगफल से भी परे कोई चीज होती है जिसे लेकर ही वह पूरी है। तो वही और जो कुछ है, वह उसी को लेकर है।

यदि हम मीमाँसकों के परिचायक चिह्नों को जैनेन्द्र के कथा-साहित्य पर लागू करें तो पता चलेगा कि वे सारे चिह्न लेखक के गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण की ओर संकेत कर रहे हैं। उपक्रम में वे भले ही स्पष्ट न हो, उसमें अर्थवाद की मात्रा कम हो, पर उपसंहार में आकर उनका मंतव्य एकदम स्पष्ट हो जाता है। पाठक के सामने कहानी के पीछे छिपी अन्तर्वाहिनी धारा प्रकट होकर ही रहती है।

आप देखें जैनेन्द्र को कथा-साहित्य को, कथा-साहित्य ही क्यों किसी भी रचना की ओर देखे—आप पायेंगे कि उनका यह गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण सब पर छाया हुआ है।

जैनेन्द्र की कहानियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: (१) फ्रायडियन मनोविज्ञान से प्रभावित, (२) बालमनोविज्ञान से प्रभावित।

रत्नप्रभा, वीट्रिस, उर्वशी, प्रतिभा, ध्रुवयात्रा, निस्तार, परिवर्तन में फ्रायडियन अवरुद्ध काम वासना की झलक स्पष्ट है। 'पाजेब' के चोर में बालकों के मनोविज्ञान को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। 'जयसिन्ध' की कहानी आत्म-शिक्षण में बाल मनोविज्ञान का पुट है। शेष कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी विषय पर तात्विक दृष्टि से विचार किया गया है। उनके अभिव्यक्तीकरण के लिए ऐसे बंधन बाँधे गये हैं, ऐसे मजमून लाये गये हैं, ऐसी घटनाओं का समावेश किया गया है जो आज की इन्द्रियग्राह्य वास्तविकता को ही सब कुछ समझने वाली बुद्धि को थोड़ा आश्चर्य में डाल दे। परन्तु इन कहानियों में पौराणिक परम्परा का पालन करते भी, अतीन्द्रिय दैवी घटनाओं की योजना रहते भी लेखक की विचारधारा अन्तः सलिला नदी की तरफ स्पष्ट रूप से प्रवाहित है।

जैनेन्द्रजी ने अब तक १० उपन्यासों की रचना की है, परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन, मुक्तिबोध तथा अनन्तर। यों तो जैनेन्द्र के प्रथम उपन्यास में ही उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। परख को पढ़ते ही पाठक के मन में संस्कार जम जाता है कि प्रथम बार वह एक असाधारण और अभूतपूर्व लेखक के सम्पर्क में आया है जो अपने पूर्ववर्ती कलाकारों से सर्वथा भिन्न है। वह जीवन तट के चारों ओर अधिक फैलकर उसकी शोभा को आयत्त नहीं करना चाहता। वह नहीं चाहता कि सरिता के तीर पर भूमिखंड का वर्णन अति विस्तार से किया जाय। उसकी अभिलाषा है कि इन सारे प्रपंचों का परित्याग कर सरिता के शीतल जल में ही डुबकी लगाना, उसकी गहराई नापना उसी के अन्दर रत्न को ढूंढ लेना। और यह सही ही है कि—

अब्धि लँघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्
आपाताल-निमग्नपीवरतनु जानाति मन्दराचलः

अर्थात् बन्दर इत्यादि योद्धागण तो समुद्र को लाँघ भर सके, परन्तु समुद्र के अनन्त गांभीर्य का ज्ञान भी उन्हें हो सका? नहीं, इसका ज्ञान तो 'आपाताल-निमग्न-पीवरतनु मंदराचल' को ही हो सका।

हम कल्याणी के कुछेक स्थलों को देखें। जहाँ कथाकार ने कल्याणी को अपने हृदयोद्गार के द्वारा अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया है। अथवा जहाँ स्वयं लेखक इस जगत तथा उसमें घटित होने वाले घटना-प्रवाह की आलोचना करता है, उसके सच्चे रूप को पहिचानना चाहता है तथा उसके मूल में बैठी प्रेरक शक्ति (इन्सपायरिंग फोर्स) को पकड़ने का प्रयत्न करता है। मैंने

अपने अध्ययन के लिये ऐसे दो स्थलों का निर्वाचन किया है। कल्याणी आत्म-कथात्मक उपन्यास है जिसमें ले देकर दो ही पात्र हैं, एक तो लेखक और और दूसरी कल्याणी। कल्याणी के पति भी हैं। पर उनका कोई पृथक दृष्टि-कोण नहीं है। वे कल्याणी को ही लेकर हैं और कल्याणी को समझने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वह कल्याणी जीवन के प्रति अपने आत्मपीड़क दृष्टिकोण को छोड़ दे तो अच्छा है। पर साथ ही साथ वह अपने हृदय की तह में महसूस भी करते हैं कि जो कुछ कल्याणी सोच रही है अथवा कर रही है वह स्वाभाविक भी है, उसमें कोई भी कृत्रिमता नहीं है। कोई भी नारी इस विशेष परिस्थिति में यही करती तथा उसी प्रकार विचार करती। वह कल्याणी को अवश्य समुचित मार्ग पर लाना चाहते हैं पर व्यावहारिक और सांसारिक सुख सौविध्य की दृष्टि से। मन-ही-मन कल्याणी की वेदनाशीलता और व्यथाशीलता के प्रति वे अवनत ही हैं।

कल्याणी के १६वें परिच्छेद में लेखक अपने जीवन सम्वन्धी विचार प्रकट कर रहा है।

"भीतर वाहर ये दो शव्द हैं। पर वे दो शब्द नहीं हैं प्रकृत में एक ही है। दो होकर भी एक, जैसे ओर और छोर। और जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ उनमें सचमुच विरोध हो पड़ा है वहीं क्लेश है। इस तरह का क्लेश मानवीय सृष्टि है। वस्तुतः वह है नहीं। तभी तो जगत नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने हैं दो बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अनेक के बीच एकता का भाव ही हमारी समस्या है।"

"अर्थात् सत्य में इस जगत का कोई कुछ परस्पर सर्वथा असम्वद्ध नहीं है। अवकाश के बीच में दीखता है वह रिक्त नकार नहीं है, योग वियोग के तरह-तरह के अलक्ष तन्तु उसमें भरे पड़े हैं।"

"परिणामतः, व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं। एक को दूसरे की परिभापा में समझा जा सकता है, व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है।"

लेखक ने यत्रतत्र अपने दृप्टिकोण को ही इसी तरह स्पप्ट किया है जिससे पता चलता है कि जीवन पर वह किस रूप में विचार करता है। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय तपोवन की स्थापना करना कल्याणी का एक सपना है जिसे वह साकार देखना चाहती है। इसकी आर्थिक सहायता के लिये वह अपने इप्ट मित्रों के पास हाथ फैलाती है। प्रिमियर जिनकी एक समय वह घनिप्टता की

अधिकारिणी रह चुकी है उनके यहाँ से निराशाजनक उत्तर पाकर खिन्न हो जाती है। वे लिखते हैं कि उनसे कुछ भी आशा नहीं की जा सकती। वे गाँधी सेवासंघ के सदस्य हैं। अपना कहने को उनके पास एक पैसा भी नहीं है। यह देखकर कल्याणी का मन, उसका हृदय मानव के उस ओछेपन पर खिन्न होता है जो गौरव और त्याग के आवरण में प्रकट होता है।

वह कहती है कि "गाँधीजी का रास्ता यह कभी नहीं है। जो सूखा है, हृदय के रस से हरा-भरा नहीं है वह गाँधी का नहीं है। गाँधी की तपस्या मुस्कराती है। निज की ओर ही वह दुद्धर्ष है, शेष सब ओर स्निग्ध है। प्रीति की मुस्कराहट जहाँ नहीं वैसी कर्म-तपस्या गाँधी की नहीं। गाँधी सेवा संघ में क्या स्नेह को सुखा दिया जायेगा। यह तो गाँधी को गाँधीवाद में भून देना होगा। इससे बड़ी अकृतज्ञता, गाँधी की हत्या और क्या हो सकती है······कहेंगे कि मैं निरीह रहूँगा, क्योंकि मैं संघ का सदस्य हूँ। ओ! यह विडंबना है मैं जानती हूँ। अपने इन्कार पर गाँधी भारत का स्वराज्य भी नहीं लेंगे। गाँधी की तपस्या लीला है। लीला तपस्या है। सबके रास्ते पर वह सबके साथ है। वह पति है। पिता है, सब है लेकिन उन मेरे गाँधी के भक्त की मर्जी यही है न कि मैं अपनी राह अकेली रह जाऊँ, अकेली···अकेली···अकेली।"

इन सब बातों को सुनकर लेखक अवश या असहाय-सा कल्याणी के सामने बैठा रह जाता है। उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। उसे ऐसा बोध होता है कि जीवन के ऐसे पवित्र क्षणों का साक्षी तो एक अन्तर्यामी ही हो सकता है। बाहरी सृष्टि अशुचि है, अनधिकृत है। जो दशा लेखक की होती है वही दशा इन पंक्तियों से पाठक की भी होती है। बातें कुछ इस ढंग से, इस लहजे में कही गई हैं जो हृदय को छू लेती है और अपनी सत्यता में विश्वास करने के लिए मनुष्य को बाध्य कर देती है। मनुष्य की तर्क बुद्धि इस पर ठिठकी सी रहती है, तब तक उसकी अनन्त चेतना उसको ग्रहण कर जीवन व्यापार की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऊपर जो एक-दो स्थलों के उद्धरण दिये गये हैं वे केवल विचार प्रतिपादनार्थ ही हैं। जिस दृष्टिकोण की चर्चा की गई है उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं स्थलों तक सीमित नहीं। जहाँ भी लेखक की ओर से अथवा कल्याणी की ओर से कहने कहलाने का उपक्रम हुआ है वहाँ यही दृष्टिकोण सर्वोपरि सिर उठाये हुए दीख पड़ता है।

दिल्ली राजधानी के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कल्याणी कहती है:

"आज की राजधानी में नई दिल्ली क्या ऊपर और क्या भीतर पत्थर नहीं

है ? खूबसूरती उसकी पत्थर की और गरूर की है। पानी और घास की ठंडक कहीं बिछती है भी तो उसके ऊपर तनकर मगरूर पत्थर गुर्राता है।"

ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि कथाकार चाहे जो कुछ कहता दीख पड़े, कहानी कहता हो, प्रीमियर के स्वागतार्थ दिल्ली की कोठी को सुसज्जित करता हो, डा० असरानी की बातें करता हो, खिलौने की चर्चा करते हो, भारतीय तपोवन की स्थापना करता हो, नये औषधालय का उद्घाटन करता हो सबके मूल में जीवन को समग्र रूप में, व्यापक रूप में ग्रहण करनेवाली मनोवृत्ति झलकती रहती है।

त्यागपत्र में प्रधान पात्री के रूप में मृणाल की कथा कही गई है। कथा कही गई है कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि जैनेन्द्र के उपन्यास कथा के मार्ग से विकसित नहीं होते। उसमें कथा का मोह नहीं होता। जीवन को वास्तविक और व्यापक रूप में समझने के लिए कथा का सहारा लिया जाता है, क्योंकि इस रूप से जीवन को समझने में सुविधा हो जाती है। मृणाल एक स्वाभिमाननी नारी है। उसमें जीवन के प्रति गहरी आस्था है। वह जीवन को जीने भर के लिये नहीं मानती। वह पूर्ण सच्चाई के साथ समाज और उसके आदर्शों के प्रति आत्म-समर्पणपूर्वक ही जीना चाह रही है। वह एक आदर्श पतिव्रता नारी की तरह पति से कुछ भी दुराव नहीं रखती। विवाह के पूर्व की छोटी-छोटी त्रुटियों को भी पति से नहीं छिपायेगी। पर यही सत्यता और ईमानदारी उसका काल हो जाती है। उसे अपने पति के घर को छोड़कर बाहर आ जाना पड़ता है। एक बार जो घर छोड़ देती है तो कौन-कौन सी नारकीय गलियों में भटकना और तिल-तिल करके मरना नहीं पड़ता। पर वह इस जीवन के प्रति भी आस्थावान ही है। अपने भतीजे के लाख समझाने पर भी वह इस जीवन को छोड़कर तथाकथित उच्च जीवन को अपनाने के लिये नहीं आती।

जैनेन्द्र के उपन्यास सच्चे अर्थ में मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। यों वे सब उपन्यास, जिनमें मानव के आंतरिक जीवन के चित्रण का प्रयत्न किया गया है, मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। कौन ऐसा उपन्यास है जिसमें पात्रों के आंतरिक्त जीवन पर थोड़ा प्रकाश न पड़ता हो ? रानी केतकी की कहानी तथा खत्रीजी के उपन्यासों में भी तो पात्रों के राग, विराग, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, प्रेम इत्यादि का वर्णन ही रहता था। प्रेमचंद ने भी तो पात्रों के आन्तरिक चेतना प्रवाह का चित्रण किया ही है। पर फिर भी वे वैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते, कारण कि उनके पात्र दुनिया के बाहरी रंगमंच पर अधिक क्रियाशील हैं। मानो वे जीवन में सार तत्व (essence) को पाने के लिए सारे

विश्व का चक्कर काट आते हैं, आकाश-पाताल एक कर देते हैं। जब उनका पाँव उखड़ने लगता है तो एक क्षण रुक कर भीतर भी झाँकते हैं। पर दम जरा बँधा नहीं कि फिर उसी घुड़दौड़ में लग जाते हैं। पर जैनेन्द्र के पात्रों के ही चारों ओर जगत परिभ्रमणशील है, वे बाहर जाते भी हैं पर बाहर न होकर अन्दर ही अधिक रहते हैं। थोड़ी क्रियाशीलता भी है। पर पात्र ज्यादा अपनी विचार में ही (Contemplation) जी रहे हैं। उपन्यास को आकर्षक और दिव्य तथा प्रभावपूर्ण बनाने का श्रेय घटनाओं को नहीं है, परन्तु उन विचारों को है, उन उद्गारों को है जिन्हें पात्रों ने जब तब प्रकट किये हैं। ऐसा मालूम होता है ये घटनाएँ निमित्त मात्र ही हैं और पाठकों को भावपूर्ण जीवनोच्छ्वास से उर्मिल सागर तक पहुँचा देने में साधन हों और कुछ नहीं।

मैंने अपनी सुविधा के लिये मनुष्य के व्यक्तित्व को दो भागों में विभक्त कर लिया है। क्रियाशील मानव (Man-in-action) तथा विचारशील मानव (Man-in-Contemplation)। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का ध्येय क्रियाशील मानव (Man-in-action) से अधिक विचारशील (Man-in-Contemplation) हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यहाँ पर पात्रों के शरीर से अधिक उनके मानस (Psyche) की अधिक प्रतिष्ठा होने लगती है, उनके बाह्य रूप से अधिक आन्तरिक रूप की छानबीन होने लगती है। मतलब यही कि वे अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक (Phychological) होने लगते हैं। हम खत्रीजी के पात्रों से भी परिचित होते हैं, प्रेमचंदजी के पात्रों के भी सम्पर्क में आते हैं और जैनेन्द्र के पात्रों को भी समझते बूझते हैं। पर एक बात सत्य है कि यह जानने की क्रिया एक तरह की नहीं होती, उसमें भेद होते हैं। हम खत्रीजी के पात्रों को जानते तो हैं, पर उसी तरह से जिस तरह से एक-दूसरे देश के व्यक्ति को जानते हैं। प्रेमचंद के पात्रों को देखकर यह भावना हम में जगती है कि वे मित्र हैं; जैनेन्द्र के पात्रों को हम उसी तरह जानते हैं जैसे हम स्वयं को जानते हैं। हम अपने को इतनी घनिष्टता से जानते, अपनी अच्छाइयों-बुराइयों और अपनी असंगतियों से इतने प्रगाढ़ रूप से परिचित रहते हैं, अपने चरित्र की परस्पर विरोधी वैविध्य पूर्ण पहलुओं को इतनी समीपता से जानते हैं कि अपने बारे में कोई निश्चयात्मक सम्मति नहीं दे पाते। हम नहीं कह सकते कि हम अपने को किस विशेषण से बांधकर रखें, अच्छा या बुरा, गौरवमय या पतनोन्मुख। अपने मित्र के बारे में या किसी दूरस्थ व्यक्ति के बारे में कुछ निश्चित सम्मति दे देना उतना कठिन नहीं है, क्योंकि उसके जीवन का कुछ अंश मेरी नजरों से सदा ही ओझल रहता है।

ये ही कुछ अन्धकारमय अंश पात्र को एक खास आकार प्रदान कर देते हैं। पर अपने सम्बन्ध की जानकारी की सीमा होती ही नहीं। उसमें ठोस आकार कहाँ से आये। हम मृणाल को जानते हैं। वह कुछ उस रूप में हमारे सामने आती है जहाँ सब साफ है, निर्द्वन्द्व है, उसमें कहीं भी दुराव नहीं। वह करती भी तो कुछ नहीं। प्रेमचंदजी के सूरदास हैं तो अन्धे, पर उनमें देवशक्ति है। वे जब किसी को पंजों में दबा लेते हैं तो उसकी सारी देह कड़कड़ा जाती है मानो धृतराष्ट्र लोहे के भीम को अपने बाहुओं में दबाकर चूर-चूर कर देना चाह रहा हो। मृणाल बिचारी है। वह तो कुछ भी नहीं करती दीख पड़ती। वह बिना शोर किये चुपके से कोयले वाले के पास बैठ जाती है अथवा बालकों को पढ़ाने का काम करती है, पर वह मज्जा तक सच्ची है। जो बाहर है वह भीतर है, कलई वाला सदाचार नहीं है। खरा कंचन ही उसके यहाँ टिक सकता है। त्यागपत्र से एक ही उदाहरण देना काफी होगा।

प्रमोद की हार्दिक अभिलाषा है कि मृणाल जिस नारकीय वातावरण में आ पड़ी है उसे त्याग दे और एक सभ्य, संभ्रम, कुलीन महिला की तरह प्रतिष्ठित समाज में चलकर रहे। पर वह क्यों मानने लगी। उसने तो सब जगह सब कुछ पा लिया है, कहती है।

"मुझे ऐसा लगता है कि इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है उनमें कई तह पार करके वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। इसी से अब यह प्रतीति मेरे लिये इतनी कठिन नहीं रह गई है कि सबके अन्तर में परमात्मा है वह सर्वान्तिर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसी से अभी यहाँ से टूटकर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ? कहाँ सब कुछ नहीं?"

ये पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से मृणाल के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालती हैं। स्पष्ट है कि जिस तरह से गेस्टाल्टवादी स्थिर रेखाओं के बीच में एक विशिष्ट परिस्थितियों के अन्दर गतिमान चित्रों को देख लेता है उसी तरह मृणाल हर जगह सब कुछ देख लेती है, कारण कि वह विशिष्ट मनःस्थिति में है।

सुनीता के सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने स्वयं अपने मंतव्य को स्पष्ट किया है। रवि बाबू के 'घरे बाहिरे' नामक उपन्यास के अवांछनीय रूप से ऋणी होने का जो दोषारोपण किया गया, इसका भी उत्तर उन्हें देना पड़ा। उन्होंने बतलाया कि 'सुनीता' और 'घरे बाहिरे' में थोड़ी-सी अनुकूलता होते हुए भी प्रतिकूलता कितनी है। इन दोनों में क्या और कहाँ किस मात्रा में अन्तर है, इससे हमारा मतलब नहीं है। हो सकता है कि 'घरे बाहिरे' का कुछ प्रभाव सुनीता पर हो।

हम तो यहाँ देखेंगे कि लेखक इस पुस्तक में अपने अभिव्यक्त दृष्टि बिन्दु के बारे में क्या कहता है। जैनेन्द्र कहते हैं।

"क्या सुनीता का घर टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा ? क्या उस घर को बाहर के प्रति बन्द किया है ? नहीं, ऐसा नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है। शायद कोई भी नहीं।

दोनों शाश्वत रूप से क्या परस्परपेक्षाशील नहीं हैं ?"

"मैंने चुनांचे समस्या के रूप में भी कुछ भिन्नता देखी है और रखी है ? बाहर को निरे आक्रमण के रूप मैंने घर के भीतर प्रविष्ट नहीं किया। हरिप्रसन्न पुस्तक में वहीं बाहर का प्रतीक है, किंचित प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा। प्रत्युत् वहाँ उसकी अपेक्षा है। उसके अभाव में घर एक प्रकार से प्रतीक्षा-मग्न है, वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है मानो उस घर में बाहर के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न अपने आप में अधूरेपन के बोझ से मुक्त नहीं है और जैसे वह एक प्रकार के उत्तर में और एक नियति के निर्देश से ही एक रोज अनायास घर के बीच में आ पहुँचा है । पहुँचकर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नही। अपने से विवश होकर ही जो है सो है।"

यह स्पष्ट ही सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण है। ठीक उसी तरह जिस तरह एक गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक वस्तु को आकार से भिन्न नहीं देखता, तीन या चार विंदुओं को देखते ही वह एक त्रिकोण या चतुष्कोण को देख लेता है, मानो वह त्रिकोण या चतुष्कोण वहाँ बिन्दुओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही किसी रहस्यमय रूप में उपस्थित हों और रेखाओं को सार्थकता प्रदान करते हों। बिन्दुओं में त्रिभुज अथवा चतुर्भुज के लिये अथवा त्रिभुज या चतुर्भुज में बिन्दुओं के लिये कोई आन्तरिक माँग थी और वे दोनों परस्पर आवद्ध होकर पूर्ण हो सकें।

परख जैनेन्द्र का सर्वप्रथम उपन्यास है जिसका प्रकाशन सम्भवतः १६३० में हुआ था। यद्यपि इस उपन्यास में प्रेमचंदजी के उपन्यास की इतिवृत्तात्मकता का स्पष्ट प्रभाव है, पर इतना तो स्पष्ट है कि पाठक को समझते देर नहीं लगती कि उपन्यास एक नूतन कोरी (Unexplored) मनोभूमि में प्रवेश कर रहा है और वह है मनोजगत का मनोवैज्ञानिक और कौशलपूर्ण चित्रण। इसमें आधुनिक मनोविज्ञान जैसे फ्रायडियन, समाज मनोविज्ञान का भी पात्रों के चित्रण में पर्याप्त प्रभाव है। यहाँ हम गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के ही प्रभाव को ढूंढ रहे हैं, अतः उसका उल्लेख ही समीचीन होगा। कट्टो नाम्नी नायिका एक निरीह और सरल हृदया बाल विधवा सत्यधन नामक मास्टर पर अपने हृदय की सारी श्रद्धा और विश्वास और अनुराग की न्योछावर कर चुकी है पर परि-

ज्यादा बोलती है कि कुछ लोग उसे वकवास या मदारी का खेल कहते हैं। दूसरी धारणा जो वँधी, वह यह है कि मेरे पास कहने को अपना क्या है! जो कुछ मैं कहने वाला हूँ उसे तो दूसरे कह ही गए हैं और मुझ से कहीं अच्छे शब्दों में। तव मेरे लिए कहने को क्या रह जाता है? यदि नहीं रह जाता है तो क्यों मुँह खोलने जाऊँ? सच मानिए, इसी भावना ने मुझे लेखक वनने से रोका। कहिये, हीनता की भावना (inferiority complex), पर वात अपनी जगह पर ठीक है। तिस पर आ गई मेरी वधिरता। मनोविज्ञान ने अन्तर्द्रष्टा वनाया ही था। इस वधिरता के साथ मिलकर वह और भी पुरअसर हो गया—एक तितलौकी, दूसरे चढ़ी नीम के पेड़। सोचता हूँ कि यदि मनोविज्ञान ने पैर पीछे नहीं खींचा होता तो क्या मैं भी वड़ा लेखक नहीं वनता! गालिव को इश्क ने निकम्मा न कर दिया होता तो वे भी काम के आदमी हुए होते। मुझे यह मनोविज्ञान ले डूवा, नहीं तो मैं भी कम काम का आदमी नहीं था। आज अवश्य ही एक वड़ा लेखक या आलोचक हुआ होता। पर अव इस कफस में फस्ले-वहार की याद ही क्या करूँ।

तो अव यह **जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन** पुस्तक आपके सामने है। यह ध्यान में रखें कि यह सांगोपांग अध्ययन नहीं है। उनकी उपन्यास-कला का भी अध्ययन नहीं। उनके उपन्यासों में जहाँ कहीं भी ऐसी वात देखने में आई जिसमें मनोवैज्ञानिक-व्याख्या-सहिष्णुत्व है और जिन पर मनोवैज्ञानिक आलोक में विचार करने से कुछ नये पहलू स्पष्ट होकर सामने आते हैं उन स्थलों की ओर निर्देश कर दिया गया है। कुछ व्याख्या भी कर दी गई है। उदाहरणार्थ, जैनेन्द्र के सव पुरुष पात्र नारियों से एक विशिष्ट ढंग से व्यवहार करते हैं, इसे लेखक के मनोविज्ञान के सहारे समझने की चेष्टा की गई है। उनके क्रान्तिकारी पात्रों में अपने को पकड़वा देने की लालसा क्यों है, इसके लिए अपराध-भावना (guilt feeling) का नाम लिया गया है। लोगों में अपराध-भावना उनके अचेतन में दुवकी रहती है और किसी-न-किसी प्रकार अपना प्रकाशन कर दण्ड-भोगी वनना चाहते हैं और इस तरह अपने पापों का प्रायश्चित्त कर मानसिक स्वास्थ्य-लाभ करना चाहती है। संभव है इसी तरह की भावना इन पात्रों में भी काम करती हो। क्रान्ति का क्या अर्थ? निषिद्ध कर्म; वैसा कर्म जो अधिकारी-वर्ग द्वारा अनुमोदित नहीं है। किसी ऐसे ही निषिद्ध कर्म के लिए उनका अचेतन प्राय-श्चित्त की माँग करता हो, कौन कह सकता है। अचेतन की तंत्र-क्रिया वड़ी लचीली होती है, उसमें चेतन तंत्र-प्रक्रिया की दृढ़ता नहीं होती। भावनाएँ वड़ी

स्थितियाँ कुछ ऐसा मोड़ लेती हैं कि कट्टो के जीवन में आ जाता है बिहारी और सत्यधन के जीवन में पत्नी बनकर आ जाती है बिहारी की बहन गरिमा। प्रथम दिन वह गरिमा को खूब अच्छी तरह भोजन करवाती है, खूब आदर सत्कार करती है, जिस तरह नवागता वधू का किया जाता है और फिर अपने सुहाग का उतरन, पोटली देकर उनके जीवन से निकलकर आ जाती है बिहारी के पास। अपनी व्यथा-वेदना और अपनी उत्सर्ग भावना के लिये बिहारी से सदा के लिये एक वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल तन्तु में आबद्ध हो जाती है। उन दोनों की प्रतिज्ञा है, "हम वैधव्ययज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का साथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे। एक प्राण दो तन होंगे। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा" यह कहकर दोनों अपनी-अपनी राह चल देते हैं।

वह दृष्टिकोण जो रेखाओं के बीच में पड़े रिक्त स्थानों को अपनी मानस की विशिष्ट क्रिया के द्वारा भरकर सारे चित्र को साकार और सुसंगठित रूप में देखता है, वही दृष्टिकोण अलग-अलग राह पर जाते बिहारी और कट्टो को दूर, फिर भी बिल्कुल पास, अलग फिर भी बिल्कुल अलग करने में सफल होता है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र की कथाओं में, कथा-वस्तु में, तथा कथा के प्रवाह में आये उनकी विचारोक्तियों तथा पात्रों के हृदयोद्गारों में उनका सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी विचार-धारा सब कहीं से घूमकर फिर अपनी प्रकृत भूमि पर लौट आती है, मानो दिन भर का भूला-भटका भी शाम को घर पर आ जाता हो, अपनी भोजन सामग्री की खोज में दूर जाकर पक्षी अपने सांध्य नीड़ पर आ गया हो।

भले ही जैनेन्द्र के उपन्यासों में शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के प्रदर्शन करने की मनोवृत्ति पाई नहीं जाती हो, गेस्टाल्टवादियों ने प्रयोगशालाओं में एतद् सम्बन्धी जितने प्रयोग किये हों, वे स्थूल रूप में जैनेन्द्र के उपन्यास में नहीं पाये जाते हों, पर उनका आभास तो मिलता ही है। किसी पारिभाषिक शास्त्रीय या सैद्धान्तिक मान्यताओं का कविता अथवा कथा जैसे साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश विलम्ब से होता है, एकाएक नहीं हो जाता है। जब उनकी परंपरा पर्याप्त अवधि तक ऊपर प्रवाहित होती हुई मानव व्यक्तित्व के उस रहस्यमय स्तर को छूती है जहाँ से सृजन का आरम्भ होता है, तब उनके रंग से रंगी कला का जन्म होता है। रीतिकाल में बिहारी और सेनापति कवियों की कला में रीति का गहरा पुट है तो इसलिये कि कालिदास या यों कहिये

आदि काव्य वाल्मिकी रामायण से ही प्रारम्भ होकर प्राकृत और अपभ्रंश काव्य से होती हुई वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल की रस धारा से परिवृद्धमान रीतिधारा पुष्ट होकर लोगों के सृजनात्मक स्तर कों छू सकी थी। यही कारण था कि उनकी कविताओं में रीति का इतना गहरा पुट वर्तमान था। यह साधारण-सी बात है कि नदी के आदि-स्रोत में जहाँ से नदी प्रारम्भ होती है वहाँ कोई गंधक की खान हो तो उस नदी के जल में भी गंधक के गुण इत्यादि वर्तमान रहेंगे ही। अभी तक भारतवर्ष में क्या यूरोप में भी मनोविज्ञान की कोई विशिष्ट परम्परा नहीं बन पाई है इस रूप में वह हमारे मानस की रहस्यमयी सृजनात्मक प्रतिभा को छू सके। अतः जैनेन्द्र में भी किसी विशेष आधुनिक मनोविज्ञान के प्रति दृढ़ आग्रह को ढूंढना असामयिक (Premature) होगा। अभी उपन्यास साहित्य को धैर्य से प्रतीक्षा करनी होगी तब उसकी धारा में मनोविज्ञान का शास्त्रीय रंग आने लगेगा।

पर फिर भी जैनेन्द्र को यहाँ गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कथाकारों के रूप में देखने-सुनने की चेष्टा की गई है, इसलिये कि उनकी कथाओं के द्वारा उपन्यास के क्षेत्र में एक नींव अवश्य पड़ रही है जिसे मनोवैज्ञानिक परंपरा ही कहा जा सकता है।

यद्यपि जैनेन्द्र के उपन्सासों की टेकनीक पर अलग विचार हो चुका है। पर फिर भी अब हम इस बात पर विचार करने का उपक्रम करेंगे कि इस संपूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के समावेश के कारण, जैनेन्द्र की टेकनीक, उनकी कथा-पद्धति, उनके कथा संगठन, तथा उनकी भाषा के प्रयोग में कौन-कौन-सी विशेषताएँ आई हैं। यह साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि भाव परिवर्तन के साथ-साथ भाव प्रकाशन के रंग-ढंग में भी परिवर्तन आ ही जाता है। भाव जब आते हैं तो अपनी सानुकूल रचना प्रणाली, तदर्थ रूपव्यंजक शैली स्वतः साथ लिये आते हैं। देवकीनन्दन के उपन्यास एक ढंग के होते हैं, प्रेमचंदजी के दूसरे, जैनेन्द्र के तीसरे तो यह अन्तर बाह्य साज-सज्जा मात्र का ही, आकार-प्रकार का मात्र अन्तर नहीं। इन उपन्यासों की मूल अन्तस्थ प्रेरणा में ही कहीं अन्तर है जिसने उपन्यासों के माध्यम को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अपनाया है।

प्रेमचंदजी के चुस्त, दुरस्त, पूर्णरूपेण संगठित कथा विकास पर प्रलुब्ध पाठकों के वर्ग को जैनेन्द्र में संगठित कथा प्रवाह का अभाव खटकनेवाली बात लगेगी। इस कथा के प्रति, कथा सौष्ठव के प्रति जैनेन्द्र एकदम उदासीन हैं। कथा को भी कथा के रूप में सुन्दर होना चाहिये, उसमें पाठकों के चित्त को

भरमाये रहने की शक्ति होनी चाहिए इस बात का ख्याल लेखक को एकदम नहीं है। सुनीता की भूमिका में उन्होंने कहा भी है कि "पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है।" प्रेमचंदजी के उपन्यासों तथा कहानियों को पढ़िये तो ऐसा मालूम होगा कि कथा की कड़ियाँ इस कुशलता से बैठाई गई हैं कि कहीं टूट मालूम नहीं पड़तीं। कथा की प्रगति को समझने के लिये पाठक को जरा भी सतर्क रहना नहीं पड़ता। भोजनोपरान्त अपनी शय्या पर नींद की झपकी लेते या अपने मित्रों से बातें करते भी प्रेमचंदजी के उपन्यास पढ़े जावें तो भी कथा रस की प्राप्ति में कमी न आयेगी, पाठक घाटे में न रहेगा। प्रेमचंदजी के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें रंग गाढ़ा है, रेखायें पूर्ण हैं, अंग-प्रत्यंग के चित्रण में पर्याप्त उदारता से काम लिया गया है। बाह्य रूप चित्र के आलेखन और उट्टंकन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, चित्र चारों ओर से भरा-पूरा है। पर जैनेन्द्र के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें भारी-भरकमता नहीं, रेखायें पूरी नहीं, रेखाओं पर रंग भी हल्के हाथों से दिया गया है। चित्र के अंग-प्रत्यंग का सानुपातिक सौष्ठव भी यहाँ नहीं है, चित्र में जितने स्थानों पर रिक्तता है, वह रिक्तता, वह टूट, वह खण्डता, वह अपूर्णता, वह त्रुटि ही जैनेन्द्र की विशेषता है। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या ऊपर की गई है और बतलाया गया है कि इन गेस्टाल्टवादियों के अनुसार मानव मस्तिष्क की जो प्रतिक्रिया होती है वह उनके द्वारा उत्पन्न स्नावयिक लहरों के प्रति नहीं होती, बल्कि उनके संगठित और व्यवस्थित रूप के प्रति ही होती है। टुकड़े नहीं दीख पड़ते हैं परन्तु उनके बीच में जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है, वही सबसे पहिले दिख पड़ती है। उसी व्यवस्था और परस्परबद्धता के मध्य में पड़े दीखने के कारण वे खण्ड अपूर्ण अंश खण्डित नहीं, पर व्यवस्थित और संगठित रूप में दीखते हैं। उसी तरह जिस तरह से अपने से अलग-अलग रहनेवाले बिन्दु बिन्दुओं के रूप में नहीं, एक सीधी रेखा के रूप में दीखते हैं या तीन इस रूप में रखे बिंदु ∴ एक त्रिभुज के रूप में दिखाई देते हैं। जैनेन्द्र भी अपने उपन्यासों तथा कहानियों में प्रकारांतर से गेस्टाल्टवादियों के स्वर में स्वर मिलाकर यह कहते जान पड़ते हैं कि मेरी कथा की कड़ियाँ भले ही टूटी हों, खंडितहों पर इससे क्या ? पाठक के मस्तिष्क की प्रक्रिया न तो उनकी पूर्णता के प्रति ही होगी—वह पूर्णता जो उन खंडांशों में छिपी है। पाठक की मानसिक क्रिया तो इन रिक्तताओं को तड़पकर भर ही लेगी। जैनेन्द्र इस तरह एक गेस्टाल्टवादी (जिसको हमने सम्पूर्णतावादी कहा है) औपन्यासिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इसके

श्रादि काव्य वाल्मिकी रामायण से ही प्रारम्भ होकर प्राकृत और अपभ्रंश काव्य से होती हुई वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल की रस धारा से परिवृद्धमान रीतिधारा पुष्ट होकर लोगों के सृजनात्मक स्तर को छू सकी थी। यही कारण था कि उनकी कविताओं में रीति का इतना गहरा पुट वर्तमान था। यह साधारण-सी बात है कि नदी के आदि-स्रोत में जहाँ से नदी प्रारम्भ होती है वहाँ कोई गंधक की खान हो तो उस नदी के जल में भी गंधक के गुण इत्यादि वर्तमान रहेंगे ही। अभी तक भारतवर्ष में क्या यूरोप में भी मनोविज्ञान की कोई विशिष्ट परम्परा नहीं बन पाई है इस रूप में वह हमारे मानस की रहस्यमयी सृजनात्मक प्रतिभा को छू सके। अतः जैनेन्द्र में भी किसी विशेष आधुनिक मनोविज्ञान के प्रति दृढ़ आग्रह को ढूँढना असामयिक (Premature) होगा। अभी उपन्यास साहित्य को धैर्य से प्रतीक्षा करनी होगी तब उसकी धारा में मनोविज्ञान का शास्त्रीय रंग आने लगेगा।

पर फिर भी जैनेन्द्र को यहाँ गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कथाकारों के रूप में देखने-सुनने की चेष्टा की गई है, इसलिये कि उनकी कथाओं के द्वारा उपन्यास के क्षेत्र में एक नींव अवश्य पड़ रही है जिसे मनोवैज्ञानिक परंपरा ही कहा जा सकता है।

यद्यपि जैनेन्द्र के उपन्सासों की टेकनीक पर अलग विचार हो चुका है। पर फिर भी अब हम इस बात पर विचार करने का उपक्रम करेंगे कि इस संपूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के समावेश के कारण, जैनेन्द्र की टेकनीक, उनकी कथा-पद्धति, उनके कथा संगठन, तथा उनकी भाषा के प्रयोग में कौन-कौन-सी विशेषताएँ आई हैं। यह साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि भाव परिवर्तन के साथ-साथ भाव प्रकाशन के रंग-ढंग में भी परिवर्तन आ ही जाता है। भाव जब आते हैं तो अपनी सानुकूल रचना प्रणाली, तदर्थ रूपव्यंजक शैली स्वतः साथ लिये आते हैं। देवकीनन्दन के उपन्यास एक ढंग के होते हैं, प्रेमचंदजी के दूसरे, जैनेन्द्र के तीसरे तो यह अन्तर बाह्य साज-सज्जा मात्र का ही, आकार-प्रकार का मात्र अन्तर नहीं। इन उपन्यासों की मूल अन्तस्थ प्रेरणा में ही कहीं अन्तर है जिसने उपन्यासों के माध्यम को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अपनाया है।

प्रेमचंदजी के चुस्त, दुरस्त, पूर्णरूपेण संगठित कथा विकास पर प्रलुब्ध पाठकों के वर्ग को जैनेन्द्र में संगठित कथा प्रवाह का अभाव खटकनेवाली बात लगेगी। इस कथा के प्रति, कथा सौष्ठव के प्रति जैनेन्द्र एकदम उदासीन हैं। कथा को भी कथा के रूप में सुन्दर होना चाहिये, उसमें पाठकों के चित्त को

भरमाये रहने की शक्ति होनी चाहिए इस बात का ख्याल लेखक को एकदम नहीं है। सुनीता की भूमिका में उन्होंने कहा भी है कि "पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है।" प्रेमचंदजी के उपन्यासों तथा कहानियों को पढ़िये तो ऐसा मालूम होगा कि कथा की कड़ियाँ इस कुशलता से बैठाई गई हैं कि कहीं टूट मालूम नहीं पड़तीं। कथा की प्रगति को समझने के लिये पाठक को जरा भी सतर्क रहना नहीं पड़ता। भोजनोपरान्त अपनी शय्या पर नींद की झपकी लेते या अपने मित्रों से बातें करते भी प्रेमचंदजी के उपन्यास पढ़े जावें तो भी कथा रस की प्राप्ति में कमी न आयेगी, पाठक घाटे में न रहेगा। प्रेमचंदजी के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें रंग गाढ़ा है, रेखायें पूर्ण हैं, अंग-प्रत्यंग के चित्रण में पर्याप्त उदारता से काम लिया गया है। बाह्य रूप चित्र के आलेखन और उट्टंकन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, चित्र चारों ओर से भरा-पूरा है। पर जैनेन्द्र के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें भारी-भरकमता नहीं, रेखायें पूरी नहीं, रेखाओं पर रंग भी हल्के हाथों से दिया गया है। चित्र के अंग-प्रत्यंग का सानुपातिक सौष्ठव भी यहाँ नहीं है, चित्र में जितने स्थानों पर रिक्तता है, वह रिक्तता, वह टूट, वह खण्डता, वह अपूर्णता, वह त्रुटि ही जैनेन्द्र की विशेषता है। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या ऊपर की गई है और बतलाया गया है कि इन गेस्टाल्टवादियों के अनुसार मानव मस्तिष्क की जो प्रतिक्रिया होती है वह उनके द्वारा उत्पन्न स्नावयिक लहरों के प्रति नहीं होती, बल्कि उनके संगठित और व्यवस्थित रूप के प्रति ही होती हैं। टुकड़े नहीं दीख पड़ते हैं परन्तु उनके बीच में जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है, वही सबसे पहिले दिख पड़ती है। उसी व्यवस्था और परस्परबद्धता के मध्य में पड़े दीखने के कारण वे खण्ड अपूर्ण अंश खण्डित नहीं, पर व्यवस्थित और संगठित रूप में दीखते हैं। उसी तरह जिस तरह से अपने से अलग-अलग रहनेवाले विन्दु विन्दुओं के रूप में नहीं, एक सीधी रेखा के रूप में दीखते हैं या तीन इस रूप में रखे बिंदु ∴ एक त्रिभुज के रूप में दिखाई देते हैं। जैनेन्द्र भी अपने उपन्यासों तथा कहानियों में प्रकारांतर से गेस्टाल्टवादियों के स्वर में स्वर मिलाकर यह कहते जान पड़ते हैं कि मेरी कथा की कड़ियाँ भले ही टूटी हों, खंडितहों पर इससे क्या? पाठक के मस्तिष्क की प्रक्रिया न तो उनकी पूर्णता के प्रति ही होगी—वह पूर्णता जो उन खंडाशों में छिपी है। पाठक की मानसिक क्रिया तो इन रिक्तताओं को तड़पकर भर ही लेगी। जैनेन्द्र इस तरह एक गेस्टाल्टवादी (जिसको हमने सम्पूर्णतावादी कहा है) औपन्यासिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इसके

लिये सचेष्ट भी हैं। 'परख' उनका सर्वप्रथम उपन्यास है। उसकी भूमिका में अपनी पद्धति पर उन्होंने स्वयं प्रकाश डाला है जिससे बातें और भी स्पष्ट हो जाती हैं। वे कहते हैं "मैंने जगह-जगह कहानी में तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठकों को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूँ, पाठक के लिये थोड़ा अभ्यास वाँछनीय होता है; अच्छा ही लगता है। कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा-सा रिक्त स्थान छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया गया है, कहीं-कहीं लापरवाही से हल्की धीमी कलम से काम लिया गया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से।"

इन सब पंक्तियों का यही अर्थ है कि खण्ड में भी पूर्णता किसी-न-किसी रूप में प्राप्त रहती है, वही वास्तविकता है, खण्ड की स्थिति उसी को लेकर हैं।

अतः जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा शृंखला टूटी-सी, कथा भाग में बड़े-बड़े रिक्त स्थान (gaps) हैं तो इसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है कि पाठक का क्रियाशील मानस-व्यापार इन खण्डों में भी पूर्णता देख ही लेगा। सुनीता को ही लीजिये। इसकी कहानी सीधी सादी है। सुनीता के पति श्रीकान्त को यह अच्छा नहीं लगता कि उनका मित्र हरिप्रसन्न जीवन प्रवाह में निरुद्देश तिनके की तरह लहरों के संकेत पर उठता गिरता चले। नहीं, वह जरा संयमित हो किसी सिलसिले से तो रहे। हरिप्रसन्न को ठीक राह पर लाने का भार सुनीता को सौंपा जाता है। सुनीता के प्रति उसके हृदय में आकर्षण का सूत्रपात होता है और वह आसक्ति की अवस्था तक पहुँच जाता है। एक दिन आधी रात को जंगल में हरिप्रसन्न सुनीता को ले जाता है अपने क्रान्तिकारी दल का संगठन दिखलाने तथा उसे नेत्री के पद पर अधिष्ठित करने के लिये। पर वह कामुकतावश मोहग्रस्त हो सुनीता को समूची पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। सुनीता इसके जवाब में हरिप्रसन्न के सामने नग्नावस्था में खड़ी हो जाती है। नारी की तेजस्विता के सामने मोह चूर-चूर हो जाता है। सुनीता घर लौट कर पूर्ववत अपनी गृहस्थी में रम जाती है। यह कहानी आदि से अंत तक इस ढंग से कही गई है कि पाठक को पद-पद पर वस्तु के स्वरूप निर्माण के लिये अपने गाँठ से कुछ न कुछ लगाना पड़ता हैं। यदि वह लेखक पर ही निर्भर करे तो न तो वह कथा रस की ही उपलब्धि कर सकता है न पात्रों को पहचान सकता है। खैर, अजीब है ही हरि। पर एक भरा पूरा गृहस्थ श्रीकांत यह कैसा है जो हरि को राह पर लाने के लिये अपनी पत्नी को ही साधन बनाना चाहता है और सुनीता कम अलौकिक और रहस्यमयी है क्या? यह चौका बासन करने वाली नारी हरि के हृदय के औद्धत्य को किस तरह तोड़

देती है ? सारे उपन्यास में इसी तरह का वातावरण परिव्याप्त है और यही बात प्रेमचन्दजी के कथा रस पर लुब्ध पाठकों को उलझन में डालने वाली सी लगती है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रति कुछ आलोचनाओं की कटुता के मूल में यही मनोवृत्ति काम करती है। पर यदि कथाकार की सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कटुता बहुत कुछ दूर हो सकती है।

जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा प्रवाह की वर्णनात्मक कथ्थक्कड़ी प्रवृत्ति को, बहिर्मुखी प्रवृत्ति को, स्थूल प्रवृत्ति को मोड़कर दूसरी ओर अग्रसर करने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र वर्णनात्मक से अधिक गवेषणात्मक है, उनकी वृत्ति बाहर के प्रसार से अधिक अन्तर की गहराई की ओर है, स्थूल से अधिक सूक्ष्म है। दूसरे शब्दों में वे मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनेक सम्प्रदायों में गेस्टाल्ट के अधिक समीप जैनेन्द्र आये हैं और यही कारण है कि उनके उपन्यासों तथा कहानियों के बाह्य रूप आकार प्रकार में भी परिवर्तन हो गया है। चूँकि जैनेन्द्र की मूल प्रेरणा ही अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से भिन्न है अतः उनके उपन्यास भी भिन्न हैं। यदि प्रेमचंद और देवकीनंदन खत्री के उपन्यास स्थूलकाय हैं, भारी भरकम हैं अनेक भागों में प्रकाशित होकर हजारों पृष्ठों की परिधि घेर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि कथा के देव ने साक्षात् उनके सामने उपस्थित होकर आदेश दिया था, "प्रेमचन्द ! मैं तुम्हारी प्रतिभा के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित होना चाहता हूँ। जाओ, मेरे लिये उचित क्षेत्र तैयार करो।" जैनेन्द्र के समीप मनोविज्ञान बेचारा वामन रूप धारण करके सकुचाता-सा आया और कथा के विशाल और अनन्त प्रांगण में से केवल तीन डेग भर भूमि को नाप लिया। जैनेन्द्र की कथा भी वामन रूप धारण करके आती है, भूधराकार शरीर को धारण कर गरजती नहीं आती। कारण कि मानव को लेकर उसे विश्व की परिक्रमा नहीं करनी थी परन्तु विश्व को लेकर मानव के हृदय और मस्तिष्क के अतल और संकीर्ण अपरिचित गलियों का चक्कर लगाना था, उसके टेढ़े-मेढ़े अन्धकारमय कोनों को देखना था। जिस कार्य की सिद्धि करनी होती है उसके अभीष्ठ सहायक तदनुरूप रूपविधान तथा साधन की आवश्यकता होती है। पवनसुत हनुमान को लंका की अपरिचित गलियों में अशोक वाटिका में बैठी सीता का पता लगाना था तो उन्हें भी मशक का सा छोटा रूप धारण कर लेने में ही सफलता दीखी।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी देखने पर बात स्पष्ट मालूम होती है कि जब मानव अन्दर के भावों से भरा होता है, उसके मानस के भीतर गुरू गम्भीर

वात्याचक्र का घूर्णन होता रहता है तो वह उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर कुछ इस तरह से छा जाता है कि उसके बाहरी कार्य-कलाप शिथिल से हो जाते हैं। उसकी कृतित्व शक्ति का ह्रास हो जाता है। एक माँ का चिरप्रवासी पुत्र जब परदेश से लौटकर उसके चरणों में सिर नवाता है तो वह कुछ इस तरह भावावेश में आ जाती है, उसका हृदय इस तरह से भावों से गद्गद् हो जाता है कि उसकी वाणी मूक हो जाती है, उसके मुख से आशीर्वाद के एक दो शब्द भी कठिनता से निकलते हैं पर जो भी शब्दों के टुकड़े निस्सृत होते हैं वे अपनी छोटी सीमा में निस्सीम और अनन्त भाव सागर को बांधते हुए आते हैं। वे बोलते हैं कम, पर ध्वनित अधिक करते हैं। उनके एक-एक संकेत में अपार विश्व छिपा रहता है, बूंद में बाडव का दाह छिपा रहता है। फ्रायड ने स्पष्टता-पूर्वक बतला दिया है कि मनुष्य की छोटी-मोटी निरर्थक और बेकार-सी लगनेवाली क्रिया के गर्भ में भी व्यक्ति भूतपूर्व जीवन का विशाल इतिहास छिपा रहता है। इस तरह उस क्रिया के मूल कारण का पता लगाने का प्रयत्न समुचित उपायों द्वारा किया जाय तो एक आश्चर्यजनक और कार्य व्यापार संकुल जटिल रहस्य का उद्घाटन होगा, पता चलेगा कि देखने में छोटी-सी क्रिया लगने वाली सृष्टि में कितने शत-शत कारणों का हाथ है।

अतः जो मनोवैज्ञानिक कथाकार होगा उसमें घटनाओं के क्रमिक विकास तथा सानुपातिक संगठन के प्रति स्वाभाविक उदासीनता होगी। उपन्यास जब तक उपन्यास रहता है तब तक उसमें कुछ घटनाओं का समावेश रहना तो अनिवार्य ही है पर वे घटनायें सांकेतिक होंगी और उनकी शृंखला की कड़ियां टूटी-फूटी रहने पर भी किसी रहस्यमय शक्ति के सहारे जुड़ती रहेगी। उनका प्रारम्भ आकस्मिक होगा, मध्य के मार्ग में भी कोई सुव्यवस्था न होगी विशेषतः जब लेखक का दृष्टिकोण गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का हो। कथोपकथन की अधिकता होगी पर ये कथोपकथन वार्तालाप शैली (Conversational Style) में होंगे मानो कोई भरे दिल से बातें कर रहा हो, उसकी बातों की जड़ दिल की गहराई में हो, वे दिल की गहराई से उखाड़ कर रखे गये हों और उखाड़ते समय उनकी कोमल मिट्टी और जड़ की शिरायें भी लगी चली आई हों। जो वर्णनात्मक उपन्यास होते हैं मानो उसमें एक वृक्ष की ऊपरी शिरायें शाखाये काट-काट कर हमारे सामने रख दी गई होती हैं उनमें मोटे-मोटे तने और शाखाये होती है जो ऊँचाई का आभास भले ही देती हों पर गहराई की अतल व्यापी गम्भीरता की झलक उपस्थित नहीं करती।

अंग्रेजी की एक अति ही लब्ध प्रतिष्ठ कथाकार हैं श्रीमती वरजिनिया

उल्फ। इनके उपन्यासों में मनोविज्ञान का वड़ा सुन्दर समावेश हुआ है। ऊपर की पंक्तियों में जिन वातों की चर्चा की गई है उन सबका प्रतिविम्व उनके उपन्यासों में पाया जाता है। उनके अंतिम उपन्यास का नाम है 'अंकों के वीच में' (Between the Acts) इस नामकरण से ही लेखिका की मनोवृत्ति का पता चलता है। लेखिका की धारणा मालूम पड़ती है कि (Active Drama) अर्थात् सक्रियता से, हमारे वाहरी हलचल पूर्ण कार्यकलाप से तो जीवन की सतही झलक भर मिल सकती है। वास्तविक वस्तु तो वह है जो अंकों के वीच में घटित होती है। उसी तरह जैनेन्द्र के उपन्यास पाठकों को कहते मालूम पड़ते हैं कि हमारी कथाओं की लड़ियाँ टूटी हैं तो क्या? इस पर मत जाओ इस टूट के वीच में जो रहस्यात्मक वातावरण है वही मुख्य वस्तु है। मन एक रहस्यमय ढंग से तड़प कर उस टूट को भर देगा। वास्तविक महत्वपूर्ण ये कथा की लड़ियाँ नहीं जो टूटी-सी दीख पड़ती हैं परन्तु वे चीजें हैं जो इन टूटों के वीच में किसी रहस्यमय ढंग से घटित होती हैं, जिन्हें पाठक अपनी गाँठ से पूँजी लगा कर पाता है। अतः एक कृपालु कथाकार की ओर से कृपा के रूप में दान दिये हुए कथा रस से उत्पन्न आनन्द से इस स्वोपार्जित रस के आस्वादन में एक अपूर्व वैलक्षण्य रहता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि इस तरह के कथाकार में कथा के प्रति उदासीनता नहीं है। हाँ, इनकी कला सूक्ष्म हो गई है, पतली हो गई है, अनावश्यक झाड़-झंखाड़ों को झाड़कर मानव की आन्तरिकता और मनोवैज्ञानिकता के सूक्ष्मता को अपना पाथेय वनाना उसने निश्चित किया है।

कल्याणी के प्राम्भ को ही लीजिये, प्रारम्भ यों है:

"जव कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो जाता है, कोशिश तो करता हूँ उधर जाऊँ ही क्यों। लेकिन वेकार, सच वात तो यह है कि मैं अगर एक-एक राह मूंदता चलूं तो खुली रहने के लिए दिशा किधर और कौन शेष रह जायेगी? यों सव रुक जायेगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है जिंदगी नाम चलने का है।"

इसकी तुलना कीजिये प्रेमचन्दजी या उन्हीं की वर्णनात्मक प्रणाली को अपनाने वाले अन्य उपन्यासकारों के प्रारम्भ से। श्री भगवती चरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का प्रारम्भ इस तरह से है:

"दिन और तारीख याद नहीं और उन्हें याद रखने की कोई आवश्यकता नहीं। वात सन् १६३० के मई मास के तीसरे सप्ताह की है। गरमी ने एक भयानक रूप धारण कर लिया था और थरमामीटर ने वतलाया था कि दिन का टेम्प्रेचर ११६ तक पहुँच गया है। लू के प्रचण्ड झोंके चल रहे थे और उन्नाव

शहर की सड़कों पर सन्नाटा छाया हुआ था। लोगों को घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था। सूर्य के प्रखर प्रकाश से आँखें झुलसी-सी जाती थीं। उस समय दोपहर के दो बज रहे थे।"

ये उद्धरण केवल उपलक्ष्य मात्र हैं। जैनेन्द्र के किसी उपन्यास से और वर्णनात्मक किसी भी उपन्यासकार (जिनकी संख्या आज भी कम नहीं है) की रचनाओं से इन उद्धरणों की संख्या में अभिवृद्धि की जा सकती है। इन पर विचार करने से एक बात स्पष्ट है कि प्रथम उद्धरण अपने साथ एक सम्बद्ध विस्तृत इतिहास को भी लिए चलता है, उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्पित किये चलता है, अपने अतीत (Prehistoric age) प्रागैतिहासिक युग की कथा को भी ध्वनित करता चलता है जिससे पाठक की कल्पना सहज ही ताड़ लेती है। पाठक समझ जाता है कि ये जो पंक्तियाँ कह रही हैं वे तो कथा का बाह्य रूप है जो दृष्टि-पथ में आ जाती है। इसका वृहद् अंश तो सतह के नीचे है। यद्यपि इस सतह के सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यासों में शृङ्खला की टूट या अव्यवस्था है तो क्या वह तो पूरी ही मानस पर उतरती है। दूसरे उद्धरण से स्पष्ट है कि कथा की गति धीर और गम्भीर है, इसके आगे और पीछे कुछ नहीं है। अतीत तो कुछ है ही नहीं। हाँ, भविष्य कुछ अवश्य है पर जो होगा वह तो हो ही जायेगा। वह सामने आयेगा। अभी चिन्ता का कोई अवसर नहीं अर्थात् वह संतुष्ट है।

सुखदा, विवर्त और व्यतीत में भी स्पष्ट रूप से ये बातें प्राप्त होती हैं। कथा की दृष्टि से वही छोटे-छोटे (Gaps) रिक्त स्थान, अल्पकायता, पात्रों की न्यूनता, कथा की साँगोपांगिता के प्रति उदासीनता, विचारों की दृष्टि भी वही जो खण्ड को न देखकर सम्पूर्ण को ही देखती है। भाषा की दृष्टि से छोटे-छोटे वाक्य, पैने कथोपकथन जो प्रायः अधूरे हैं······इस तरह के संकेत से पूर्ण जिन्हें पाठक की सहज बुद्धि बोधगम्य बना लेती है। लाक्षणिक लचीलेपन से भरे तरल वाक्य जो साधारण सुलभ शब्दों को लेकर सम्पूर्ण ध्वन्यात्मकता से समन्वित हो गये हैं। पाठकों को अपने पात्रों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी न देने और अपनी कल्पना से ही बहुत कुछ जान लेने की प्रवृत्ति इन उपन्यासों में बदली-सी जान पड़ती है। 'विवर्त' के पूर्ण पारायण कर लेने के पश्चात भी पाठक को पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता अथवा हो जाता है कि मोहिनी और उसके पति नरेश में क्या सम्बन्ध थे। वे परस्पर संतुष्ट जीवन व्यतीत करते थे अथवा अन्दर दो विभक्त धाराओं में बहता जीवन भी बाहर से संयुक्त रहने का अभिनय कर रहा था। चड्ढा का रुख इस दम्पति के प्रति अथवा जितेन

शीघ्रता से एक वस्तु को छोड़कर दूसरे से लिपट जा सकती हैं।

इसी तरह के कुछ प्रश्न तथा उनके उत्तर इस पुस्तक में मिलेंगे। मनोविज्ञान, कहा ही जाता है, क्यों प्रश्न के साथ संबंध रखता है। वह सब घटनाओं के कारण को ढूँढता है। वह अनायासता में, accident में, विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार, सब घटनाओं के निश्चित कारण होते हैं। उन्हें समझना-समझाना मनोवैज्ञानिक का उद्देश्य होता है। इस पुस्तक में भी ऐसे ही प्रश्न उठाये गये हैं। उदाहरणार्थ, यह प्रश्न छेड़ा गया है कि 'त्यागपत्र' के बाद जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों को दूसरे के कृतित्व के रूप में उपस्थित क्यों किया है? क्यों कहा है कि वे दूसरों की डायरी को प्रकाशित कर रहे हैं जो उन्हें किसी तरह हाथ लग गई है? जैनेन्द्र से पूछा जाय तो वे यही कहेंगे कि जब उनके उपन्यासों को लेकर बहुत वाद-विवाद चलने लगा और आलोचकगण कृति से ध्यान हटाकर कृतिकार के व्यक्तित्व से उलझने लगे तब उनके मन में उलझाव पैदा हुआ। तब उन्होंने सोचा कि रचना को दूसरों की कृति कह देने से पाठकों का ध्यान अपने पर से हटकर रचना पर केन्द्रित होगा और वे लोग सीधे रचना के गुण-दोषों की परख की समस्या से उलझेंगे। यदि अंग्रेजी के उपन्यासों में ऐसी कथा कहने की परम्परा रही हो तो उसका ज्ञान नहीं था। पर अब यह छल खुल गया है। भविष्य मे इसका अवलम्ब नहीं लिया जायेगा। हाल ही के एक पत्र में उन्होंने ऐसा लिखा था जो यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया जा रहा है।

७-९-६८.

प्रिय भाई देवराज जी,

आपके प्रदीप के नाम भेजे गये कागजों में प्रश्न है कि त्यागपत्र में आकर अपनी मौलिक कथा को दूसरे पर डालकर मैंने क्यों उपस्थित करना शुरू किया। अंग्रेजी में या दूसरी किसी भाषा में ऐसा किया गया हो, तो मुझे पता नहीं था। त्यागपत्र से पहले 'सुनीता' छपी थी। उस पर जो विवाद उपजा उसमें जैनेन्द्र के निजत्व को भी घसीट लिया गया था। तब सोचा कि आगे जो लिखूंगा उसके कर्तृत्व में से मैं अपने को हटा लूंगा। ऐसे लोग कृति से उलझेंगे, मुझे चैन से रहने देंगे। त्यागपत्र में उस विधि को अपनाने का सीधा कारण यह था। उपन्यास प्रस्तुत करने की यह भी एक विधा होती है, वह अधिक समर्थ या सांकेतिक हो सकती है, इत्यादि-इत्यादि की मुझे तनिक सुध न थी। और जैसा आपने लिखा है त्यागपत्र के कृतित्व को लेकर कुछ देर के लिए मुझे

के प्रति क्या था ? वह इनका शत्रु था या मित्र ? सब पात्र जैसे शतरंज के खिलाड़ी हों एक दूसरे को मात देने के लिए उत्सुक हों। सब बातें तो करते हैं पर एक (Mental Reservation) के साथ। न कम न अधिक। न तो इतना कम ही कि परिस्थिति के अनुकूल न हो और न इतना अधिक कि परिस्थिति साफ हो जाय। कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि लेखक जानबूझ कर पाठकों को चक्कर या उलझन में रखना चाहता हो। 'सुखदा' में भी कथा को रहस्य में लिपटी ही रहने देने वाली प्रवृत्ति काम कर रही है। सुखदा तो रहस्यमयी है ही। उसके पति, हरिदा और लाल कम रहस्यमय नहीं है। अंत में यही कह कर हम समाप्त करते हैं कि जैनेन्द्र का कोई भी उपन्यास नहीं जो पाठक के गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अभाव में अपना स्वारस्य प्रदान करने में समर्थ हो। और यह प्रवृत्ति परख से व्यतीत तक बराबर बढ़ती गई है।

जैनेन्द्र ने उपन्यास कला को एक ऐसा संकेत प्रदान किया है जिसमें बड़ी ही सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हैं, जिस संकेत सूत्र को पकड़ कर कलाकार की प्रतिभा उपन्यास के क्षेत्र में अनेक तेजोमयी मूर्तियों की स्थापना कर सकती है और आज का दारिद्रय दूर हो सकता है। यह भले ही हो कि इस ओर जैनेन्द्र का महत्व प्रारम्भिक कार्रवाई (Pioneering work) से ज्यादा न हो और ये प्रारम्भिक कारबार करने भर से अधिक समर्थ न हो सके। आंद्रा जीद ने उपन्यास कला के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सारगर्भित बात कही है जिसका मनन और चिंतन हिंदी उपन्यासकार के लिए कभी अफलप्रद न होगा।

The thing to do—Contrary to the practice of Meredith and James is to give an advantage over me to manage things so that the reader may think himself more intelligent even than the author, of higher morality, and more discerning and as it were inspite of the author, may discover many points in the characters and many truths in the story not percieved by the author himself. Quoted from The Twentieth Century Novel, 1932 Page 468.

उपन्यास के सम्बन्ध में इससे अधिक अर्थपूर्ण उक्ति आज तक नहीं कही गई है। इसका भाव यह है कि उपन्यास लेखक को बस एक ही काम करना चाहिये कि विषय का संयोजन इस कौशल से हो कि पाठक अपने को स्फूर्त अनुभव करे, वह समझे कि मैं लेखक से भी अधिक बुद्धिमान हूँ। मेरी नैतिकता उच्चकोटि की है। मेरी बुद्धि अधिक सूक्ष्मदर्शी है और मैं लेखक के कहे बिना

भी पात्रों में उन बातों का पता लगा सकता हूँ तथा कहानी में सत्य के इन पहलुओं का दर्शन पा सकता हूँ जो लेखक के लिए भी अगम्य थे।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के मार्ग की ओर से ऊपर की पंक्तियों में जैनेन्द्र की उपन्यास कला का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का यही एक कथाकार है जिसमें पाठक की इस अहंवृत्ति को गर्वोन्नत अनुभव करने का अवसर मिलता है। दूसरे उपन्यासकार हैं जिनसे हम बहुत कुछ प्राप्त करते हैं पर उनको लेकर हम अपने को एक याचक की स्थिति में ही पाते हैं। पर जैनेन्द्र के साथ हमारी याचकता का बोध कम हो जाता है। हम समझते हैं कि हम ले ही नहीं रहे हैं, हम अपनी ओर से भी कुछ दे रहे हैं। हम मिट्टी के निरे लोंदे ही नहीं जिस पर कोई जैसा चाहे वैसा संस्कार छोड़ दे। उस संस्कार के निर्माण में हमारा सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। हमारा विश्वास है कि आगे आने वाले प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार जैनेन्द्र की इस परम्परा को अग्रसर करेंगे।

जैनेन्द्र की कुछ कहानियों के आधार पर हमने देखा है कि उनकी सीमा में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की प्रवाहित होती हुई स्पष्ट धारा हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। उनके उपन्यासों में तो कथा-शिल्प की दृष्टि से, भाषा के प्रयोग की दृष्टि से अथवा कहीं-कहीं सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से भी हमने इस गेस्टाल्टवादी मनोवृत्ति का ग्रहण पाया है। पर चूँकि हमारे यहाँ के शिक्षित समुदाय ने विशेषतः फ्रायड के मनोविश्लेषण-वाद के प्रति ही अधिक अभिरुचि दिखलाई और इसी ने हमारे विचारों को अधिक प्रभावित किया अतः जैनेन्द्र के कथा-साहित्य ने इससे भी कहीं-कहीं मूल प्रेरणा प्राप्त की है और हिन्दी के कोष को कलात्मक कहानियों से समृद्ध किया है। इन कहानियों में 'ध्रुव यात्रा', 'एक रात', 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'मास्टर जी', 'बाहुबली', 'बिल्ली का बच्चा' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। फ्रायड-वादियों का एक मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य की बाह्य नैतिकता, कर्तव्य परायणता के प्रति अतिरिक्त दृढ़ता, किसी आदर्श के प्रति ऐकान्तक समर्पित आचरण सभ्य, विशिष्ट और मर्यादापूर्ण व्यवहार की स्थिति इत्यादि किसी अचेतन की ठीक विपरीत भावनाओं पर अवलम्बित रहती है। आपका चेतन जिस अनुपात में किसी बात के प्रति उदासीनता, वैराग्य या घृणा के भाव प्रदर्शित करता हो उसी अनुपात में आपका अचेतन उसके प्रति आसक्ति और मोह के भाव पोषित करता रहता है। हम मानो अपनी कम-जोरियों से अच्छी तरह वाकिफ रहते हैं, हम पूर्णरूपेण अवगत रहते हैं कि हममें वे दुर्बलतायें कहाँ तक घर किये बैठी हैं और हमारे जितने आचरण होते हैं,

हम जितनी आदर्शवादिता की बातें करते हैं, 'परोपदेशे पण्डित्यम्' का परिचय देते हैं, वे सब मानो किसी आन्तरिक प्रक्रिया के विकृत रूप हैं। मनुष्य मन ही मन अपनी आन्तरिक भावनाओं की कदर्थता, कुरूपता, तथा दुःशीलता पर झुँझलाया रहता है। इनकी चोट को सह सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है और वह अपने बाह्य आचरणों तथा छटपटाहट, तथा हलचलों के द्वारा अपने उगते हुए आत्म-विद्रोह को शान्त करने की चेष्टा करता है।

यही बात हम 'एक रात' नामक कहानी के जयराज में पाते हैं। यद्यपि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर देश सेवाव्रत के प्रति आत्मसमर्पित रहने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है, इस मार्ग में किसी प्रकार की बाधा के सम्पर्क से वह दूर रहना चाहता है, पर फिर भी उसके अंदर कहीं न कहीं ग्रन्थि है, अतृप्ति है जो उसकी गति में स्वाभाविकता नहीं आने देती। वह देश की सेवा करता तो है, उसकी उपस्थिति लोगों के हृदय में उत्साह का मन्त्र फूंक देती है पर उससे सेवा होती नहीं है। दूसरे शब्दों में वह मनोविकार ग्रस्त (न्यूरोटिक परसनालिटी) व्यक्ति है। न्यूरोटिक कहलानेवाले व्यक्तियों के आचरण में कोई विशेष असाधारणता परिलक्षित नहीं होती, वे अनन्य-सामान्य-वृत्ति नहीं होते, वे परिश्रम से भी जी नहीं चुराते। ध्येय प्राप्ति के लिए भी सदा संलग्न रहते हैं, पर तिस पर भी कृतकार्यता उनसे विमुख ही रहती है। उनके व्यक्तित्व में कोई वस्तु है—अड़चन है जो उनकी शक्ति के अधिकाँश को सोख लेती है और लक्ष्य भूमि को अभिसिंचित करने के लिये थोड़ा ही रस उनमें अवशिष्ट रह जाता है। मेरा खयाल है कि जयराज राष्ट्र की सेवा भले ही कर लेता हो, पर वह पूर्ण रूपेण राष्ट्र को प्राप्त नहीं है। नहीं तो भला हरीपुर जाने की समस्या कौन-सी बड़ी थी कि वहाँ-जाऊँ—कि न-जाऊँ को लेकर इतने अंतर्द्वन्द्व की तथा शक्ति के अपव्यय की आवश्यकता हो। अन्त में वह मानो अपनी इच्छा के बावजूद भी हरीपुर उपस्थित हो ही जाता है और वहाँ जाने पर जो व्यवहार करता है वह तो पाठकों को विदित ही है। उसे लौट आने की जल्दी है। वह लोगों के अनुरोध की अवहेलना कर स्टेशन चला जाता है। फिर लौट आता है। बाद में आँधी, पानी की परवाह न कर स्टेशन आता है। वहाँ पर जिस परिस्थिति में गाड़ी छोड़ देता है वह उसकी आन्तरिक अस्वस्थता, विक्षिप्तता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

इस कहानी का पात्र जयराज न्यूरोटिक तो है ही। पर साथ ही इस कहानी में मनोविश्लेपणवादियों की एक और पद्धति का कलात्मक उपयोग किया गया है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व की सच्ची झाँकी प्राप्त

करने के लिये कितनी ही पद्धतियों का आविष्कार किया है। उनमें एक यह भी है कि परीक्ष्य व्यक्ति के द्वारा अनायास खींची गई टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें, टेढ़े-मेढ़े चित्र, अनर्गल वाक्यों में मनुष्य का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। उन्हें देख कर उनकी व्याख्या में सतर्कता से काम लेकर हम व्यक्ति के आन्तरिक स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।...अन्त में टहलते-टहलते वह (जयराज) मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखा। लिखा कहें कि खींचा : यह होल्डर से, निब से नहीं, ब्लाटिंग पैड, पर कागज पर नहीं, लिखा नहीं, खींचा—इन बातों का मनोवैज्ञानिक महत्व विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

Swaraj is our birth right is indisputable elsewhere as in politics. But there is marriage too. Marriage gives a man foot-hold, Society a unit. It gives a home. Alright, perfectly alright. But ? And there is love in human breast. Did God make marriage ? No, man did the making of it, and I say love is not chaos. It is never, never.

पात्रों के मानसिक जीवन की विचित्रताओं, उलझनों का चित्रण करना कथाकार का उद्देश्य होता है। ये पंक्तियाँ जयराज के अचेतन की गहराई में डुबकी हुई पर वहीं पर से उसके जीवन सूत्र को हिलानेवाली प्रवृत्तियों के रूप को स्पष्ट कर पाठकों के सामने रख देती हैं। वे इस बात की घोषणा करती हैं संसार तो जयराज की इस बात पर विश्वास करता है कि उसने सेक्स भावनाओं पर सदा के लिए विजय प्राप्त कर ली है। पर वे मर कर भी अमर रहती हैं। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में बहुत खोज करने पर भी एक उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ पर पात्रों के व्यक्तित्व का रहस्य इस ढंग से उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। निश्चित है कि यह कुंजी कथाकारों ने मनोवैज्ञानिकों के घर जाकर प्राप्त की है। उसी तरह मुक्त आसंग (free association) पद्धति भी मनोवैज्ञानिकों की, विशेषतः फ्रायडवादियों की खास चीज है। इसमें रोगियों को जो मन में आवे उसे कहने की छुट्टी दी जाती है। मानो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, या उनकी लिखी डायरी या उनके स्वप्नों की मीमांसा कर उनके मन के गुप्त रहस्यों के समझने का प्रयत्न कर उसके अनुसार चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

'ध्रुव-यात्रा' में इसी डायरी के द्वारा तथा परिप्रश्न के द्वारा अपने विश्व-विजयी पात्र के जीवन की गाँठ को खोलने की व्यवस्था की गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी का पात्र भी न्यूरोटिक है, उसे जीवन में

सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं, वह इस विश्व को जीत कर ध्रुव को जीतने की यात्रा करता है, पर उसकी मानसिक शक्ति का अधिक अपव्यय होता है और अन्त में वह आत्म-हत्या कर लेता है।

'विट्रीस' कहानी का मेजर मनसा भी अधिक रुग्ण है, वह एक तरह से जड़ हो गया है, उसके जीवन में एक लहर भी नहीं उठती, यहाँ तक शरीर में सूई चुभाने पर भी उसे पीड़ा नहीं होती। अन्त में अस्पताल में एक परिचारिका के स्नेह की तरलता और आर्द्रता उसे रोगमुक्त करती तथा जीवन प्रदान करती है।

'वाहुवली' में यह वात दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि चाहे मनुष्य कितने ही कार्योत्सर्ग झेले, दुर्द्धष तपश्चरण करे, सुखों का विसर्जन करे, चाहे वह आमोद-प्रमोद और सुख विलास के साधनों के वीच रहकर ही क्यों न जीवन व्यतीत करे, पर सच्ची शान्ति तो तव तक प्राप्त नहीं हो सकती जव तक उसके हृदय की फांस न निकले, शल्य न दूर हो। तपस्वी वाहुवली भी सुखी नहीं, चक्रवर्ती भरत भी शान्त नहीं, क्योंकि दोनों ने अपने अभ्यन्तर की ग्रन्थि को नहीं देख पाया है, जिस दिन उन्हें अपनी गाँठ दिखलाई पड़ गई उसी क्षण वे स्वस्थ हो गये, आँखें खुल गयीं, मौन सुख मुस्करा उठा। उस मुस्कुराहट में उनकी अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर विखर गई और मन मुकलित हो गया। यदि इस कहानी में प्रतिपादित वातों को फ्रायडियन मनोविज्ञान की ग्रन्थियों (Complexes) की प्रणाली से देखा जाय तव यह पता चलेगा कि एक छोटी-सी वात यदि हृदय में अज्ञात ग्रन्थि के रूप में जमकर वैठ जाती है तो किस तरह मनुष्य की लक्ष्य सिद्धि में वाधा पहुँचाती है। इसी को मनोवैज्ञानिक भाषा में यों कहे कि वह संगठित व्यक्तित्व (Integrated personality) के विकास को अवरुद्ध कर देती है।

'विल्ली का वच्चा' में मानस की उस अज्ञात प्रक्रिया की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया गया है जिसे स्थानान्तरीकरण (Transference) कहते हैं। हम अपनी भावनाओं के मूलाधार को परिवर्तित कर अपनी तृप्ति का मार्ग ढूंढ़ निकालते हैं। एक निराश प्रेमी अपनी प्रेमिका के चित्र को अथवा उसी का प्रतिनिधित्व किसी अन्य पदार्थ में मानकर उसी के प्रति अपने हृदय की भावनाओं को समर्पित कर शान्ति की साँस लेता है। मनोविज्ञान की पुस्तकों में ऐसे उदाहरणों की भरमार है जहाँ नारी अपने वात्सल्य को पालतू पशु-पक्षियों पर व्यय कर संतोष प्राप्त करती है। इस कहानी में भी यह वात कही गई है कि अपने नटखट भाई की मृत्यु से शश्वती विक्षिप्त सी हो जाती है। भयानक

ज्वर से आक्रान्त हो जाती है और रोग से तब तक मुक्त नहीं होती जब तक उसके प्यार का स्थान लेने के लिए कहीं से बिल्ली का बच्चा नहीं आ जाता। उसके बाद तो आप जानते ही हैं कि एक दिन वह भी आया कि वह फल-फूल कर खूब मोटी भी हो गई। यह चमत्कार मानस के (transference) प्रक्रिया के द्वारा ही संभव हो सका। हो न हो, शरवती को अज्ञात चेतना ने बिल्ली के बच्चे में भाई का प्रतिनिधित्व पाकर अपने प्रवाह का मार्ग प्रशस्त किया।

"घुँघरू", "पत्नी", "ग्रामोफोन का रेकार्ड", "पानवाला", "जाह्नवी", 'ब्याह' इत्यादि, कहानियाँ जैनेन्द्र की कहानी के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इसलिए हैं कि इन कहानियों में जैनेन्द्र की प्रतिभा ने मनुष्य की उस मानसिक स्थिति का चित्रण किया है जिसमें वह मीठी-मीठी आँच पर पकता सा रहता है। उसमें उबाल नहीं रहता, कोई ऊफान नहीं रहता, वेदना इतनी घनीभूत नहीं रहती कि जिसकी चाह या छटपट चिकित्सकों की औषधियों की मांग करें। वह जीवन की किसी अज्ञात गहराई में इस तरह से दुबक जाती हैं कि उसके अस्तित्व तक का पता नहीं चलता, पर वहीं से वह किसी अनिर्दिष्ट अभाव की सृष्टि कर निरानन्द के वातावरण से मनुष्य को घेर लेती है और प्राण रस को चाटती रहती है। मानो दर्द हद से गुजर गया हो, पर अभी दवा नहीं बन पाया हो, कतरा अपने वजूद को भूल रहा हो, पर अपने को "दरिया" में फंना नहीं कर सका हो। यह मानसिक स्थिति मनुष्य जीवन की सबसे भयंकर, पर साथ ही सबसे दिव्य है। भयंकर इसलिए कि अन्दर ही अन्दर यह मनुष्य के जीवन में घुन की तरह लगकर उसे निस्सत्व कर दे सकती है, पर उचित रूप में उपयोग करने पर जीवन की सारी विभूतियों का श्रेय भी उसी को मिल सकता है, इसीलिए दिव्य भी है।

इस मानसिक पीड़ा के अभिशाप से ग्रस्त मनुष्य विश्व में शून्य की तरह विलीन हो सकते हैं अथवा शीर्ष स्थान के मूर्धन्य अधिकारी हो जीवन के संदेश-वाहक हो जा सकते हैं। जीवन में जो कुछ भी "मति, कीरति, गति, भूति भलाई।" जहाँ भी जिस तरह भी उपलब्ध हो सकी है, सो सब मानस की इसी पीड़ामयी स्थिति के परिणाम हैं, इसी के "सत्संग" प्रभाव से प्राप्त हो सकी हैं। इसके लिए दूसरा कोई भी साधन नहीं, "लोकहुँ वेद न आन उपाऊ"। इसी अन्तर्पीड़ा को, अन्तर्मथन को, किसी अज्ञात प्रेरणा से उमग पड़ने वाली लहर को अपनी कहानी कला का सहारा दे जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य को एक नये मार्ग पर ला खड़ा किया है। इसी मानसिक अवस्था के आलोडन प्रति-लोडन को हमने अन्यत्र (One way traffic) कहा है। अज्ञेय की कथाओं

में भी इसी अन्तर्पीड़ा को कला की पकड़ में लाकर देखने का प्रयत्न किया गया है अवश्य, पर उनका दृष्टिकोण बौद्धिक है, उनमें आधुनिक मनोविज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन का आग्रह अधिक है, कथाओं के माध्यम से उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कथाओं को रौंदता हुआ भी अपनी सत्ता की घोषणा करता है। पर जैनेन्द्र में हार्दिकता है, उनकी पकड़ कलात्मक है, उनकी दृष्टि स्वच्छन्द है, मनोविज्ञान उनकी कथाओं पर हावी नहीं हो सका है, हालाँकि मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता जटिलता और रहस्यमय उलझनों का दर्शन उतना शायद ही कहीं किसी अन्य कलाकार में प्राप्त होता है ।

जैनेन्द्र की भाषा के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं । यह सर्वविदित है कि उनकी जैसी विषयोपगी, खड़ी, कैंची की तरह मार करने वाली, अभिव्यंजक भाषा के प्रयोग करने वाले किसी भी साहित्य में विरल है। ऊपर चर्चा हो चुकी है कि कथा के क्षेत्र में उन्होंने क्या नूतनता उपस्थित की हैं, पर यदि कथा में (inside view) आन्तरिक दृष्टि की स्थापना करना, पात्रों के मानस की गहराई में चलती रहने वाली तरंग का सच्चा चित्र उपस्थित करना मनोवैज्ञानिक कथाकार का मापदण्ड है, तो जैनेन्द्र की कहानियाँ कहीं-कहीं तो अद्वितीय हो उठी हैं "पत्नी" नामक कहानी का एक छोटा-सा उद्धरण देखिये। "वह : सुनन्दा : सोचती है···नहीं, सोचती कहाँ है, अलस भाव से वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचने की है तो यही कि कोयले न बुझ जायँ···वह जाने कब आयेंगे, एक बज गया है।···कुछ हो, आदमी को अपनी देह की फिक्र तो करनी चाहिए···और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नहीं रही है। जब वह आयेंगे तो रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ-कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूँ। मुझसे नहीं बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अँगीठी पर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी। उसने जोर से खीझ कर आटे की थाली सामने खींचली और रोटी बेलने लगी। यहाँ तो कुछ बातें सुनन्दा की ओर से बाह्य दृष्टि से (Outside view) कथाकार की ओर से कही जा रही हैं। अधिक बातें सुनन्दा की ओर से (inside view) के रूप में कही गई हैं। रेखाङ्कित पंक्तियाँ सुनन्दा के हृदयोद्गार हैं। लेखक पहले पहले अपनी ओर से कहता है, पाठक बाहरी दृष्टि से देख रहा है तत्पश्चात् सुनन्दा की बातों को सुनकर मानो उसके हृदय के अंदर की झांकी लेने लगता है । पाठक उस तैराक की स्थिति में हो जाता है जो पानी की सतह के बीच डुबकी लगाकर तैर रहा हो, फिर थोड़ा-सा ऊपर आ साँस ले पुनः अंदर ही अंदर तैरने में संलग्न हो जाता हो । कहना नहीं होगा कि इस

पद्धति के द्वारा पाठक को कहानी के मनोवैज्ञानिक वातावरण से तादात्म्य करने में बड़ी सहायता मिलती है।

"दृष्टि दोप" नामक कहानी में एक ऐसी नारी की कथा है जिसकी आँख में किसी तरह का रोग तो नहीं है और यदि है भी तो हिस्टिरिक दृष्टि दोप है, क्योंकि इसके कारण सुभद्रा को उस नेत्र विशेषज्ञ के सामीप्य का अवसर मिलता है जो कभी उसका प्रेमी रहा है और जिसकी प्रणय याचना को मन-ही-मन दवाकर जीवन में रम गई थी। आज भी उसका नैतिक अहं (Super ego) इस वात पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं कि इस केदार नामक डाक्टर के लिए उसके हृदय में कोई कोमल स्थल है और वार-वार वह कहती है "अजी, मुझे दृष्टि दोप न होता और आप आँख के डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था।"

इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति की अत्यन्त समीप से देखने की, उसकी अतल गहराई में वैठ कर वहाँ से सूक्ष्म हलचलों के रहस्योद्घाटन करने की, क्रियारत मानव नहीं, पर भावमग्न, विचारमग्न मानव के वैविध्य तथा वैचित्र्य की कथाओं में पकड़ने की प्रवृत्ति जैनेन्द्र की विशेषता है। जैनेन्द्र के हाथों में पड़कर कथा जीवन के और भी अधिक गहरे स्तर पर अधिकार कर सकी है। जहाँ प्रेमचन्द की पहुँच नहीं थी। जैनेन्द्र समाज को नहीं भूले हैं। राजनैतिक परिस्थितियों की भी अवहेलना उनमें नहीं है, पर उनके साहित्य में उसका चित्रण व्यक्ति के माध्यम से हुआ है, व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक माध्यम से कहना अधिक उचित होगा। जैनेन्द्र की पद्धतियों में भी कुछ पूर्ववर्ती कथाकारों से विभिन्नता अवश्य है, पर वे प्रयोगवादी कथाकार नहीं हैं—वैसा प्रयोगवादी, जो केवल प्रयोग के लिए प्रयोग करता है, चाहे उस प्रयोग की प्रेरणा वर्ण्य स्वतु के स्वरूप से भले ही न मिलती हो। उनकी पद्धति में जो कुछ विशिष्टता आ गई है वह अपने मूलाधार तथा उपजीव्य की अन्तस्थ माँग के उत्तर के रूप में है।

: ६ :

जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोविज्ञान

इस परिच्छेद में जैनेन्द्र के प्रमुख उपन्यासों के आधार पर मनोवैज्ञानिकता पर विचार करने का प्रस्ताव है। हम यहाँ पर यह ढूँढने की चेष्टा करेंगे कि विवेच्य पुस्तकों में उपन्यासकार के जान या अनजान में, मनोवैज्ञानिकता किस प्रकार प्रवेश करती गई है। मनोवैज्ञानिकता विविध रूपों में कलाकृति में अपना स्थान बना सकती है। कहीं तो कथावस्तु ऐसी हो सकती है जो मनोवैज्ञानिकों तथा मनोविज्ञान शास्त्र के लिये प्रिय हो, कहीं उनका प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया हो, कहीं पर दोनों का समन्वय हो। कहीं पर ऐसा भी हो सकता है कि लेखक स्वयं उपन्यास के प्रांगण में उतर आये, घटनाओं तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे। पर यह बात सदा ध्यान रखनी चाहिये कि उपन्यास में राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान की बातें हो सकती हैं, पर वे कला की सेवा में ही नियोजित होकर रहेंगी। उपन्यास राजनीतिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक नहीं हो सकते—इस अर्थ में कि वहाँ ये ही बातें प्रमुख हो बैठें और उपन्यास का रूप छिप जाय।

'परख' जैनेन्द्र का प्रथम मौलिक उपन्यास है। निश्चय ही इस उपन्यास में भी यद्यपि प्रेमचन्द के उपन्यासों की तुलना में यह बहुत ही लघुकारा है। जैनेन्द्र का निजत्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, पर फिर भी प्रेमचंदीय रंग से वे अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये हैं। कथा यद्यपि छोटी है, पात्रों की संख्या भी कम है, सब ले देकर चार ही तो पात्र हैं, सत्यधन, कट्टो, गरिमा तथा बिहारी। पर कथा का विकास उसी ढंग से होता है जो प्रेमचन्द को प्रिय था। वर्णन बहुत विस्तृत नहीं है, घटनायें भी अधिक नहीं हैं, पर वर्णनात्मकता तथा घटनात्मकता से उपन्यासकार का पिण्ड नहीं छूट पाया है। प्रेमचंद की आदर्शवादिता भी है पर वह यथार्थोन्मुख अथवा समाजोन्मुख नहीं रह गई है। वास्तव में इसमें सामाजिकता के प्रति उदासीनता-सी है।

प्रेमचंद तथा जैनेन्द्र के उपन्यासों को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ प्रेमचंद के उपन्यास तत्कालीन समाज से प्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं, वहाँ जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष की शाश्वत समस्या को ही अपना आधार बनाया है और वहीं से प्रेरित भी है। प्रेमचंद के उपन्यासों का सौष्ठव तथा सुसंगठन इसमें नहीं हैं। कथा की सारी कड़ियाँ कुशलता से जोड़ी नहीं गई हैं। कवि या साहित्यकार वह हृदय है जिससे समाज की धड़कन बोलती है। यहाँ पर समाज से मेरा मतलब उपन्यासकला प्रेमी समाज—वह स्पष्ट वर्ग जो उपन्यासों में रस लेता है और उसे सदा प्रगतिशील रूप में आगे उन्नति करते हुए देखना चाहता है। हम लेखक को भी उसी वर्ग में रखते हैं। आखिरकार वह भी तो पाठक ही होता है न। उपन्यासकला के हृदय के किसी निभृत कोने में यह धड़कन उठ रही थी कि अब प्रेमचंद के कथासौष्ठव को लेकर उपन्यास अपने उत्कर्ष-साधन में समर्थ नहीं हो सकता है। यदि उसे परिस्थिति के अनुसार अपने में लचकीलापन लाना है तो उसे दूसरी पद्धति का ही अवलम्बन लेना पड़ेगा।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में पाठकों के सहयोग की आवश्यकता सर्वदा वर्तमान रहती है। प्रेमचंद के उपन्यासों का पाठक यदि जागरूक नहीं भी है, वह कुछ पन्ने नहीं भी पढ़ता है तो भी कथा-रस की प्राप्ति में उसे विशेष हानि नहीं होती। पर जैनेन्द्र के उपन्यास इतनी असावधानी गवारा नहीं कर सकते। जहाँ पाठक ने थोड़ी भी लापरवाही की, कि उपन्यास उसके लिये नीरस-सा हो जायेगा। उपन्यास की रचना दो स्तरों पर होती है—एक तो उपन्यासकार के स्तर पर और दूसरे पाठक के स्तर पर। प्रेमचंद के उपन्यास पाठक के सृजन-स्तर को आन्दोलित नहीं करते, पर जैनेन्द्र के उपन्यास उस स्तर को बरबस जानबूझ कर छूते हैं और उसे जगाते हैं। यही कारण है कि पाठक को जैनेन्द्र के उपन्यासों को सतर्कता से पढ़ना पड़ता है, Re-read करना पड़ता है और आप ध्यान से सारी पठन क्रिया पर विचार करेंगे तो पायेंगे कि दोनों उपन्यासों के पढ़ने में करीब-करीब वही समय लगता है। एक के उपन्यास दीर्घकाय भले ही हों, पर वे सरसरी दृष्टि से भी पढ़े जा सकते हैं। दूसरे के उपन्यास अल्प-काव्य भले ही हों, पर उन्हें ठहर-ठहर कर समझ-बूझ कर पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है। अतः जैनेन्द्र ने पाठकों को भी उपन्यासकार बनाया। एक प्रबुद्ध पाठक दल तैयार किया। आजकल बहुत से उपन्यास हिन्दी में लिखे जा रहे हैं जो जैनेन्द्र की रहनुमाई के बिना वजूद में नहीं आ सकते थे। उपन्यास रूपी वृक्ष ने जो आगे चलकर जैनेन्द्र के हाथों विकसित रूप धारण किया, उसके सारे बीज 'परख' में दीख पड़ते हैं।

उस तरह की सुविधा अनुभव हुई थी। पर इधर आकर बात खुल गई है और आवश्यक नहीं है कि वह छल अब मेरी रक्षा कर सके। इससे आगे वह विधि शायद नहीं भी अपनायी जायगी।

आशा है आप सानन्द होंगे।

आपका स्नेहाधीन,
जैनेन्द्र

जैनेन्द्र की यह दलील कितनी लचर है, यह स्पष्ट है। ऐसा लगता है कि यह आत्म-समर्थन है। मैं यह नहीं कहता कि वे असत्य कह रहे हैं, पर निश्चय ही यह सोच-समझ कर कही हुई बात है जिसे अंग्रेजी में after-thought कहते है। ऐसी बातें सहज-स्वाभाविक ढंग से नहीं कही जाती हैं। तब कही जाती है जब किसी को अपनी स्थिति की सफाई देनी होती है। यह कठघरे में खड़े व्यक्ति की उक्ति है, जो अपने विपक्ष के वकील की जिरह के उत्तर में कहता है। जिन लोगों को 'त्यागपत्र' के प्रकाशन के समय की परिस्थिति की याद होगी वे कह सकते हैं कि जैनेन्द्र के इस छल का उनके उपन्यास-सम्बन्धी विवाद पर कुछ भी असर नहीं पड़ा था। यदि लोग जैनेन्द्र की कृतियों को छोड़ कर उनके व्यक्तित्व की ओर झाँकते थे तो यह ताक-झाँक इस छल-कपट से न तो बन्द हुई न बन्द होने वाली थी। बल्कि कहा तो यह भी जा सकता है कि जैनेन्द्र के व्यक्तित्व के निभृत स्थलों की ओर ताक-झाँक मेरी इस पुस्तक में जितनी हुई है, वह कदाचित् ही किसी अन्य पुस्तक में हो। तब इस छल का क्या महत्व ? अरे, अन्तिम विश्लेषण में उपन्यास ही एक बहुत बड़ा छल है। जब पाठक इस बड़े छल पर से प्रसन्नता से अपने अविश्वास को हटा लेता है तो इस छोटे-से छल को नजरे-अन्दाज करना उसके लिए कौन-सी बड़ी बात है? यदि वह इतने बड़े ऊँट को निगल जा सकता है तो एक मच्छर पर वह खाँसने क्यों लगे भला ? यदि जैनेन्द्र ऐसा समझते हैं कि उनका यह उपाय सफल हो जायेगा तो मैं कहूँगा कि पाठकों के बारे में उनकी बड़ी poor opinion है। वे पाठकों को बड़ा भोला समझते हैं। पर पाठक इतना भोला नहीं होता। वास्तविक बात तो यह है कि जैनेन्द्र अपनी अचेतन प्रवृत्तियों से प्रेरित हो रहे थे। वह शक्ति किस स्वरूप की थी, इसका विवेचन मनोवैज्ञानिक ही कर सकते हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों पर विचार करने की जो शैली इस पुस्तक में अपनाई गई है उसके औचित्य पर सदा मतभेद रहेगा। यह भी सही है कि बड़े-बड़े

परख की कथा सीधी-सादी और छोटी है, सत्यधन और बिहारी दो मित्र हैं। सत्यधन आदर्शवादी नवयुवक है, बिहारी में व्यावहारिकता है। सत्यधन अपने गाँव की एक विधवा बाला की सहायता करते हैं, उसे पढ़ाते हैं। दोनों के बीच अनुराग उत्पन्न हो जाता है और कट्टो सत्यधन को लेकर सपने पालने लगती है और अपने को सधवा समझने लगती है।

लेकिन सत्यधन का सब आदर्श खोखला निकलता है और वे बिहारी की बहन गरिमा से विवाह कर लेते हैं। कदाचित् इस विवाह में उन्होंने आर्थिक लाभ भी देखा हो, क्योंकि गरिमा के पिता सम्पत्तिवान् व्यक्ति थे। इधर कट्टो के जीवन में आ जाता है बिहारी—और वे दोनों भी वैवाहिक बंधन में बंध जाते हैं, पर वह दैहिक सम्बन्ध नहीं है, आध्यात्मिक संबंध है। कट्टो गाँव में रहकर बच्चों को पढ़ाने में समय व्यतीत करती है और बिहारी कहीं दूसरे स्थान में चला जाता है—चिर आबद्ध पर सदा दूर रहने के लिये। कट्टो सत्यधन से वैवाहिक संबंध में बंधी न रहने पर भी उसके लिये बड़े-बड़े त्याग करती है, जिसके सामने वह पानी-पानी-सा हो जाता है।

संक्षेप में 'परख' की यही कथा है। इस कथा में इतना अवसर न था कि पात्रों का विस्तारपूर्वक मनोवैज्ञानिक अथवा किसी तरह का विश्लेपण किया जा सके। जिस समय 'परख' का प्रकाशन हुआ था उस समय मनोविज्ञान विशेषत: मनोविश्लेषण के पठन-पाठन का भी इतना जोर नहीं था। अत: उसका प्रयोग बहुत नहीं मिलता, पर घटनाएँ ऐसी हैं जिनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सहज में ही हो सकती है। इसी अर्थ में 'परख' में भी मनोवैज्ञानिकता की झलक देखी जा सकती है।

C. G. Jung ने अपने Psychology & Literature नामक निबंध में लिखा है :

"The novels which are most fruitful for the psychologists are those in which the author has not already given a psychological interpretation of his characters and, which, therefore, leave room for analysis and explanation or even invite is by their mode of presentation." अर्थात् "मनोवैज्ञानिकों के लिये वे ही उपन्यास अधिक उपयोगी हैं जिनमें उपन्यासकार ने स्वयं ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या न दी हो और इस तरह उनमें विश्लेपण तथा व्यवस्था के लिये पर्याप्त अवसर हो। इतना ही नहीं, उनके प्रगटीकरण का ढंग ऐसा हो, जो इसके लिये आमंत्रण दे।"

अपनी बातों को स्पष्ट करते हुए जुंग ने कहा है कि यह बात उपन्यासों में ही नहीं; काव्य में भी देखी जा सकती है और इसके लिये गेटे की प्रसिद्ध त्रासदी Faust का उदाहरण मिल जाता है। इसके प्रथम भाग में कवि ने Gretschen की प्रेम त्रासदी कथा की प्रत्येक मानसिक गुत्थियों की व्याख्या दी है, सब बातों को समझाया है, कोई ऐसा मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं है जिसे कवि ने स्पष्ट नहीं किया हो, और जिसे हम पाठक उससे अच्छे शब्दों में कह सके। पर द्वितीय भाग की बात एकदम विपरीत है। कवि की दिव्य कल्पना ने कथा का इतने मनोवैज्ञानिक आवेग, तीव्रता, उग्रता से संयुक्त कर दिया है कि वे स्वयं अपने स्व को स्पष्ट नहीं कर सकती। वे स्वयं-रूप नहीं, स्वयं पूर्ण नहीं, वे जितना दीखती है उतना ही नहीं—उससे कुछ अधिक है। कुछ या बहुत अधिक है। उन्हें अपने स्वरूप की व्याख्या के लिये मनोविज्ञान की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। मतलब—जिस पाठक को मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान है और जो मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया, उसके चेतन-अचेतन प्रवृत्तियों को समझता है, वह अपने मनोवैज्ञानिक रश्मि के सहारे बहुत से रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के प्रवेश की ये दो सीमायें हैं और इन दोनों का स्पष्ट दर्शन 'फास्ट' के दो भागों में होता है। कलावस्तु के निर्माण की इन दो पद्धतियों को जुंग ने दो नामों से पुकारा है। प्रथम को अर्थात् जिसमें रचयिता की ओर से व्याख्या दी गई है, उसे मनोवैज्ञानिक (Phychological) और जो रचना व्याख्या सापेक्ष हो, जिसमें समझने के लिये व्याख्या की अपेक्षा हो, उसे काल्पनिक (Visionary) कहा है। नाम से घबराने की आवश्यकता नहीं। काल्पनिक (Visionary) का अर्थ अमनोवैज्ञानिक नहीं है। वह भी मनोवैज्ञानिक ही है, पर दूसरे ढंग से। मुझे कोई शब्द देना हो तो मैं कहूँगा अति-मनोवैज्ञानिक, ऐसी मनोवैज्ञानिकता जो घटना में मिलकर, तदाकार परिणत हो गई हो और जिसमें मनोवैज्ञानिकता 'लावण्यामिवांगनासु' व्यंजित होती है।

इतना विचार कर लेने के बाद अब 'परख' पर आइये। इसमें जैसा ऊपर कहा गया है—चार ही तो पात्र हैं : कट्टो, गरिमा, सत्यधन और बिहारी। सब पात्रों के चरित्र में हम ऐसा परिवर्तन पाते हैं जो साधारण नहीं है, जिसमें एक तरह की असाधारणता है, प्रायः दैनिक जीवन में उस तरह के परिवर्तन हुआ नहीं करते। यदि होते भी हैं तो उनका विशिष्ट कारण होता है और उस कारण का मूल बाह्य जीवन में नहीं होता, परन्तु व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं में होता है। जिस व्यक्ति में इस तरह का परिवर्तन होता है उसे भले ही

ज्ञात न हो, वह इस परिवर्तन को तो स्वाभाविक ही समझता हो, इसमें किसी भी तरह की असाधारणता या अस्वाभाविकता दीख न पड़ती है। पर एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को इसके अन्तराल में सक्रिय रहनेवाली मानसिक प्रक्रिया को देख लेने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होगी। मनोविज्ञान भी विज्ञान है। विज्ञान में जिस तरह कारण-कार्य का सिद्धांत अनिवार्य है उसी तरह यहाँ भी उसकी अनिवार्यता मानी जाती है । अन्तर इतना ही है कि विज्ञान के नियम वाह्य जगत के लिये हैं, पर मनोविज्ञान के सारे व्यापार अन्तर्जगत के लिये है। पर यहां भी वह सिद्धांत तो माना ही जाता है। हरेक कार्य के लिये निश्चित कारण होते हैं। व्यक्ति के मानसिक व्यापार अपने पूर्ववर्ती व्यापारों के स्वाभाविक परिणाम हैं।

कट्टो एक गिलहरी है, गिलहरी ही की तरह चंचल, निरीह तथा सरल, पर अंत में आते-आते वह राम जी की गिलहरी हो जाती है और राम के सेतु-वंध में भी उसकी सहायता कम नहीं होती। ऐसा लगता है कि यदि उसकी ओर से सहायता नहीं होती तो सत्यधन जिस प्रकार समुद्र संतरण की गरिमा प्राप्त करना चाहते थे, वह संभव नहीं होती। कट्टो ने मन-ही-मन सत्यधन को स्वीकार कर लिया था। सत्यधन की ओर से भी प्रोत्साहन कम नहीं मिल रहा था, पर जव सत्यधन का विवाह गरिमा से हो जाता है तो वह जरा भी वाधा उपस्थित नहीं करती। विवाहित दम्पत्ति का वड़े प्रेम से स्वागत करती है। विवाहित दम्पत्ति सत्यधन और गरिमा का प्रथम भोजन कट्टो के घर कट्टो के हाथों से वनाई रसोई का होता है। यहाँ तक कि वह अपने सुहाग की पोटली भी उतार कर गरिमा को देती है। इन सारे व्यापारों का सात्विक प्रेम; आदर्शवाद या बाह्य नैतिक जीवनागार में जो भी शब्द प्राप्त हों; उनके आधार पर समझा कर कुछ समाधान प्राप्त कर लिया जाय, पर इन सारे व्यापारों में जो एक आतिशय्य, त्वरा है, उग्रता है वह पुकार कर कह देगा कि यह तो कुछ नहीं, वही है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने Reaction formation कहा है। वही मानसिक प्रक्रिया है जिसमें वशीभूत होकर चोर साधु वन जाता है, शत्रु मित्र वन जाता है, पापी धर्मात्मा वन जाता है, पर इस तरह का चोला वदल लेने पर भी वह रहता है वही—जो पहले था।

मैं कहने यह जा रहा हूँ कि 'परख' के पात्रों के स्वभाव परिवर्तन तथा चरित्र वैचित्र्य सम्पादन में, यहाँ कट्टो के आकाश पातालीय परिवर्तन में Reaction formation का रंग है। साधारण जीवन व्यापार में आनेवाले शब्दों के द्वारा इसे समझाया जा ही सकता है और अनेक पाठकों ने इसे इस तरह

स्पष्ट भी किया है, पर मनोवैज्ञानिक शब्दावली (Reaction formation के द्वारा समझने से इसमें एक विचित्र स्पष्टता आ जाती है। और न तो नूतनता के ही कारण। यह प्रतिक्रिया निर्माण (Reaction formation) क्या है :

मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व को तीन भागों में विभक्त किया है। Id, Ego, Superego इन तीनों में Ego का पद बहुत महत्वपूर्ण है और वही जीवन की विविध परस्पर विरोधी मार्गों के बीच संतुलन बनाये रखकर यात्रा का मार्ग प्रशस्त करता है। जहाँ परिस्थितियाँ उनके काबू से बाहर हो जाती हैं वहीं जीवन में मानसिक अराजकता उत्पन्न होती है और मनुष्य विपत्ति में पड़ता है। इस संतुलन स्थापन के लिये दो उपाय हैं (१) समस्या का सामना किया जाय। उसके वास्तविक स्वरूप को समझा जाय और तदनुरूप कार्य-वाही की जाय। यह कार्य एक संगठित व्यक्तित्व का व्यक्ति ही कर सकता है जिसमें व्यक्तित्व के तीनों घटक पारस्परिक सहयोग से कार्य करते हों, पर कभी-कभी ऐसा हार्दिक सहयोग नहीं भी उपलब्ध होता है। तब 'इगो' दूसरे उपाय से काम लेता है। (२) संघर्ष भार से मुक्त होने के लिये वास्तविकता को ही वह अस्वीकार कर देता है, उसको मिथ्या करार देता है अथवा उनके स्वरूप को ही परिवर्तित कर देता है। इसे ही मनोवैज्ञानिक शब्दावली में Defence Mechanism (सुरक्षात्मक-कवच) कहते हैं। 'ईगो' ने इस तरह के अनेक सुरक्षा-कवच आविष्कृत कर लिये हैं जिनमें Reaction formation (प्रति-क्रियात्मक-निर्माण) भी एक है। जब व्यक्ति का Ego किसी मूल प्रवृत्ति (Instinct) के भाराधिक्य से तंग आ जाता है, उसकी बोझ को वहन करना उसके लिये कठिन हो जाता है तो वह उस प्रवृत्ति के ठीक विपरीत वाली प्रवृत्ति को सामने लाकर मूल प्रवृत्ति को ढक देता है। विपरीत प्रवृत्ति के अध्यापरोप द्वारा मूल प्रवृत्ति के ज्ञान के अस्तित्व के छिपाने की क्रिया को Reaction formation कहते हैं।

उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के हृदय में किसी दूसरे व्यक्ति के लिये अपार घृणा के भाव हैं। यह भार उसकी छाती पर जमकर बैठ गया है और उसे चैन की साँस भी नहीं लेने देता। वह क्या करे ? ऐसी सूरत में Ego के पास जो प्रेम प्रवृत्ति का स्रोत है उसे वह प्रवाहित करेगा; उसकी मात्रा तथा प्रवाह इतना प्रबल होगा कि उसकी धूमधाम में घृणा का स्वरूप तो छिप जायेगा और प्रेम ही प्रेम नजर आने लगेगा। हम कह सकते हैं कि घृणा के स्थान पर प्रेम की स्थापना हो गई, घृणा पर प्रेम का अध्यारोपण कर दिया गया। पर यह बात सही नहीं होगी, क्योंकि प्रेममय बाह्य आवरण के नीचे वे ही आक्रमणात्मक भाव

काम कर रहे हैं। केवल घृणा पर प्रेम का मात्र आवरण डाल दिया गया है। उसी तरह प्रेम पर घृणा का आवरण भी डाला जा सकता है। प्रेम, घृणा, शत्रुता मित्रता, अविकार' विनय इत्यादि, विपरीत भावों में किसी एक को दूसरे का स्थानापन्न बनाया जा सकता है। जब यह प्रश्न उठे कि किसी व्यापार के प्रतिक्रियात्मक-रूप को वैसे पहचाना जाय, यह कैसे पता चलता है कि यह व्यापार प्रतिक्रियात्मक है या स्वाभाविक है? इसके लिये मनोवैज्ञानिकों ने बताया है कि यदि क्रिया में उग्रता है, व्यग्रता है, आतिशय्य है, उसमें आवश्यकता से अधिक शक्ति मालूम पड़ती तो है, ऐसा कहने के प्रमाण मिल जाते हैं कि वह Reaction है।

'परख' के सब पात्रों के व्यवहार Reactive हैं। कट्टो ने सत्यधन के लिये त्याग किया है, वह सही है। सब प्रेमी जन अपने प्रिय के लिये त्याग करते हैं। यदि कट्टो सत्यधन की गरिमा के साथ विवाह वाली बात को सहज भाव से स्वीकार कर लेती है तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यदि वह सत्यधन को दो-चार कटु वाक्य कह देती तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होता। सीता जैसी अनुगता तथा पतिव्रता नारी ने भी लोकापवाद पर निष्कासित किये जाने पर राम के प्रति लक्ष्मण से कहलवाया ही था।

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्यः।

अर्थात् मेरी ओर से उसे राजा के प्रति निवेदन करना कि तुम्हारे सामने ही अग्नि-परीक्षा में शुद्ध-प्रमाणित होनेवाली सती नारी को तुम केवल लोकोपवाद के श्रवणमात्र पर परित्याग कर रहे हो, क्या तुम्हारे कुल को ऐसी बातें शोभा देती हैं? यह सर्वथा स्वस्थ दृष्टिकोण है और इसमें समस्या की वास्तविकता को सामने रखकर समस्या के समाधान की चेष्टा है। समस्या को न तो अस्वीकृत किया गया है, न उसके स्वरूप को परिवर्तित करने की चेष्टा है और न उसे विकृत करने की। पर कट्टो ऐसा नहीं करती। एक तो वह जिस आग्रह, हठ तथा विनयातिशय्य के साथ नव-विवाहित दम्पत्ति को भोजन के लिये आमंत्रित करती है, वह जैसा स्नेह प्रवण व्यवहार करती है, अपने सुहाग की पोटली देती है, इन सब बातों को देखकर किसी भी मनोविद का माथा ठनकेगा और वह कहेगा कि यह तो वही है जिसे मनोविज्ञानिकों ने कहा है कि Lady protests too much। यहाँ तक भी ठीक। पर जब वह आगे बढ़कर बाद में सत्यधन को ७४ हजार रुपये देती है और उसे घर में आकर रहने के लिये प्रार्थना करती है तब तो और भी बात स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में वह सत्य-

धन से संतुष्ट नहीं है। वह उस पर मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त करना चाहती है, उसे अन्दर से कुचल देना चाहती है, ताकि वह अपनी गलती को महसूस करे और पश्चाताप की आग में जले। यह बहुत संभव है कि अपने व्यापारों के वास्तविक रहस्य से कट्टो भी परिचित नहीं है। विरले व्यक्ति होते हैं जो अपनी अचैतन्य प्रेरणाओं को जान सके। यह भी संभव है कि उपन्यासकार अपने पात्रों की अन्तःप्रवृत्तियों से अपरिचित हो और वह सोचता हो कि वह अपने आदर्शों के अनुसार एक पात्र का सृजन कर रहा हो, पर पात्र तथा सृष्टा दोनों कहीं न कहीं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आखेट हो रहे हैं।

उसी तरह बिहारी के आध्यात्मिक विवाह वाली बात भी इतनी सीधी तथा साधारण बात नहीं है जितनी ऊपर से देखने से मालूम पड़ती है। आदर्शवाद से ही यहां काम नहीं चल सकता। वास्तव में जहाँ अति होती है वह मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को सक्रिय होना ही पड़ता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' ऐसा नीति ने बहुत बार कहा है। वही बात मनोविज्ञान भी आज कह रहा है, पर अपने ढंग से। वह कहता है कि चाहे जो हो आदर्श या यथार्थ जहाँ अतिशयता हुई वह असाधारण abnormal है। वह मनोवैज्ञानिक केस की बात है। बिहारी एक ऐसा ही मनोवैज्ञानिक केस है। वह सत्यधन का मित्र है, पर उसका स्वभाव सत्यधन से सर्वथा विपरीत है। एक आदर्शवादी है दूसरा व्यवहारवादी। यदि दोनों में आकर्षण है तो वैसा ही आकर्षण होगा जो विरोधियों के लिये, शत्रुओं के लिये होता है, जैसे सर्प के लिये पक्षियों में होता है। पक्षीगण सर्प से डरते भी हैं, दूर-दूर रहते हैं, पर धीरे-धीरे उसके पास भी आते रहते हैं। गरिमा उसकी बहन है। गरिमा से सत्यधन का विवाह होना भी उसे अच्छा नहीं लगता। मानो सत्यधन ने उसकी सम्पत्ति हथिया ली हो। अतः कट्टो जो सत्यधन की बहिन की तरह थी उस पर अधिकार कर उससे बदला लेता है, पर वह मन-ही-मन इस कृत्य पर लज्जित भी है। अतः वह सारे व्यापार को आध्यात्मिक रंग में रंग देता है।

अंत में मेरा निर्णय यही है 'परख' में ऐसी सामग्री की कमी नहीं जिसकी व्याख्या के लिये मनोविज्ञान यथेष्ट सामग्री उपलब्ध कराता है। भले ही यहाँ पर मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग न हो। कुत्सा कुंठा, ग्रंथि इत्यादि की बात नहीं की गई हो, पर उन सबके चमत्कार पात्रों में, घटनाओं में खूब देखने को मिल जाते हैं। परख की कथा-वस्तु मनोवैज्ञानिक अवश्य है और कल्पना कठिन नहीं है कि उपन्यासकार की रचनाओं का विकास इसी तरह से होने वाला है।

'सुनीता' जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास है। यद्यपि सुनीता के प्रकाशन तक जैनेन्द्र की वहुत-सी कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। 'परख' की नूतनता कथा विशिष्टता ने प्रेमचंद जैसे साहित्यिकों का भी ध्यान ग्राकर्षित कर लिया था, पर फिर भी वास्तविक तथा समर्थ उपन्यासकार के रूप में जैनेन्द्र को मान्यता दिलाने का श्रेय 'सुनीता' को ही है। तभी से जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य में विवाद के केन्द्र रहे ग्रौर ग्राज भी वह विवादास्पदता उनके साथ लगी चली ग्रा रही है। डॉ० लक्ष्मीकान्त सिनहा ने सुनीता की कथा का संक्षिप्त रूप इस तरह लिखा है जिसे हम उद्धृत कर रहे है:

"सुनीता का पति श्रीकान्त जो एक वकील है, उससे ग्रपने कॉलेज के मित्र हरिप्रसन्न की चर्चा करता है, जो राजनीतिक सत्याग्रहों में भाग लेकर एक क्रान्तिकारी हो गया है। सुनीता हरिप्रसन्न के लिये श्रीकान्त के मन में वसी वेदना को पढ़ती है। कुम्भ मेले में वह दूर श्रीकान्त ग्रौर सुनीता को दिखाई पड़ता है ग्रौर एक दिन श्रीकान्त के घर ही ग्रा जाता है। उपन्यास की कहानी यहीं से एक दूसरा मोड़ लेती है। हरिप्रसन्न वहुत से ग्रन्तर्द्वन्द्वों के वाद निश्चित कर पाता है कि वह श्रीकान्त की पत्नी सुनीता के प्रति ग्राकर्षित है। सुनीता पहले उसके रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व के प्रति कौतूहल रखती है, फिर कुछ ग्राकर्षित होती है (पृष्ठ १४१-४२)। श्रीकान्त की यह ग्रभिलापा है कि किसी भी मूल्य पर हरिप्रसन्न को सुनीता सामान्य स्तर का वना दे (पृष्ठ १४०)। सुनीता इसीलिये ग्रपनी वहन सत्या को पढ़ाने का भार उसे दे देती है। एक दिन जव वह लाहौर जा रहा है तव वह सुनीता से कह जाता है कि वह हरि-प्रसन्न पर निगरानी रखे ग्रौर उसकी हर इच्छा पूरी करे, जिसमें वह फिर भागने न पाये। हरिप्रसन्न सुनीता को ग्रपने क्रान्तिकारी दल की प्रेरणामयी 'देवी चौधरानी' वनाना चाहता है। वह कह-सुनकर उसे एक रात युवकों से मिलने के लिये जंगल में एक गुप्त स्थान में ले जाता है। गंतव्यस्थान पर पहुँच कर हरि को यह पता चलता है कि पुलिस का खतरा है। उस स्थान में सुनीता को ग्रकेली पाकर उसकी वासना तीव्र हो उठती है। सुनीता हरि की ग्रतृप्त वासना को दया की निगाह से देखती है ग्रौर न जाने किस प्रेरणा से ग्रपना वस्त्रहीन शरीर उसे ग्रर्पित कर देती है। हरिप्रसन्न लज्जा में डूव जाता है ग्रौर उसे स्वीकार नहीं करता। इधर श्रीकान्त उसी रात घर लौटकर ग्राता है तो घर में ताला वन्द देखता है। घर लौटने पर वह हरि से वादा करा लेती है कि वह कभी भी ग्रपनी हत्या नहीं करेगा। हरिप्रसन्न जाता है तो फिर नहीं लौटता। सवेरे सुनीता रात की पूरी घटना श्रीकान्त के हाथों सौंप देती है।

वह कृतज्ञ है कि सुनीता ने एक व्यक्ति की मानसिक ग्रंथियों को खोलकर उसका और समाज का कल्याण किया।"

परख के विवेचन करते हुए हमने कहा है कि उस लघु उपन्यास में मनोविज्ञान का वह रूप मिलता है जो घटना तथा पात्रों के व्यवहार से चिपटकर घनीभूत पिण्ड वन गया है और उसके रूप को समझने के लिये थोड़े मनन तथा चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। कथा उपन्यास का पिण्डीभूत रूप है, उसमें मनोविज्ञान जमकर वैठ गया है। अव आप अपनी ओर से मनन रूपी जल का संयोग कराइये तो जो एक शीतल स्वादिष्ट पेय तैयार होगा उसमें मनोवैज्ञानिकता का स्वाद पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होगा। वहुत-सी गोलियाँ होती हैं जिन्हें पानी में रख देने पर शरवत वन जाता है। 'परख' वैसी ही एक छोटी गोली है। सुनीता भी एक ऐसी ही गोली है। पर वैसी गोली है जिसकी कठिनता में नरमाई आने लगी है। यदि गोली वड़ी हो तो पानी में घुलने में विलम्व हो सकता है। यदि पानी नहीं भी हो तो मुँह ही में चुमलाइये इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर यदि गोली नरम हो तो थोड़ी सुविधा हो ही जाती है। वही वात सुनीता में उभरती-सी दीख पड़ती है।

'परख' में कहीं भी मनोवैज्ञानिक शव्दावली का प्रयोग नहीं है पर सुनीता में उसका प्रयोग होने लगा है। सारा आधुनिक मनोविज्ञान एक शब्द के सहारे खड़ा है ग्रंथि, गाँठ complex यहाँ तक कि व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास का सारा श्रेय ही इसी को दिया जाता है। सुनीता के प्रारम्भ में ही ग्रंथि की चर्चा होने लगी है। 'सुनीता' में उल्लिखित ग्रन्थियों की चर्चा के पहले एक वाक्य को देख लेना चाहिए जो हार्दिक प्रसन्नता के साथ, उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में ही, श्रीकान्त लिखता है। इस वात का भी ध्यान रहे कि हरिप्रसन्न का ठीक पता भी मालूम नहीं। पुराने पर ही अन्दाज से अन्धेरे में पत्र का तीर छोड़ता है, लग जाये तो तीर नहीं तो तुक्का है ही। "प्रिय हरि······मैंने ऊपर लिखा मैं एक नहीं, अव हम दो हैं। ऐसा मालूम होता है कि अगर आरम्भ से व्यक्त अपने साथ जोर-जवरदस्ती न करे तो समय आता है और वह अपने को 'दो' पाता है। कह सकते हो, विवाह समाज की सृष्टि है। मनुष्य के भीतर प्रकृत रूप से वह नहीं है, लेकिन एक से दो होने की अपेक्षा आवश्यकता, जान पड़ता है, मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम, लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नहीं पाता। दूसरों की अपेक्षा उसे है ही।"

अव इन वाक्यों को आप मनोविश्लेषणवादियों की उस मान्यता से मिलाकर पढ़िये, जिसमें वे व्यक्ति में मिथुन-भाव, काम के विकास की कहानी कहते

हैं। इस मान्यता के अनुसार व्यक्ति काम-रूप है, काम-भावना तो इन्सान के फ़ितरत में है, वह सदा उसके व्यक्तित्व के साथ लगा रहता है। हाँ, उसके स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। प्रारम्भ में काम-भावना की तृप्ति के लिये किसी भिन्न लिंगी व्यक्ति को आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य अपने-आप काम-तृप्त हो जाता है। काम-वासना त्वचा पर चारों ओर छितराई रहती है। आगे चलकर वह वासना वहिर्मुखी होने लगती है और अन्त में अपने चरमोत्कर्ष पर वह एक भिन्न-लिंगी व्यक्ति के सम्पर्क से अपनी पूर्ण-तृप्ति लाभ करती है। मतलव कि प्रारम्भ में मनुष्य का काम स्व-तृप्त रहता है। वाद में पर-तृप्त होने की आवश्यकता पड़ती है। यही प्राकृतिक विकास की कहानी है—'स्व' से 'पर' की ओर अग्रसर होने की कहानी। पर कभी-कभी यह भी होता है कि किसी व्यक्ति में इस स्वाभाविक विकास की स्वाभाविक प्रगति नहीं हो पाती। वह उम्र में वढ़ जाता है, पर तदनुरूप काम का विकास नहीं हो पाता। वह अपनी पूर्ववर्त्ती अवस्था में ही चिपका रहता है। वही वात तो श्रीकान्त अपने पत्र में कह रहा है। व्यक्ति अपने साथ जोर-जवरदस्ती न करे तो समय आता है और वह अपने को 'दो' पाता है।

सम्भव है कि श्रीकान्त को या श्रीकान्त के सृष्टा को भी इस वाक्य का रहस्य न मालूम हो। वे न समझ पाये हों, मतलव उनकी चेतनस्तर को यह ज्ञान न हो कि यहाँ पर इन वाक्यों के द्वारा कोई वड़ी मनोवैज्ञानिक वात कही जा रही है, पर वात तो कही ही जा रही है। मनोविज्ञान-दृष्टि उसको ताड़ भी लेती है। फ्रायड ने भूलों के मनोविज्ञान में वतलाया है कि मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा की गई जीभ की फिसलन में कितनी सचाई रहती है। यह वाक्य भी इस तरह से कलम की फिसलन है जिसके द्वारा किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत प्राप्त हो रहा है।

श्रीकान्त के मुख से जितने वाक्य निकलते हैं अथवा उसका जो कुछ व्यापार होता है उसमें किसी न किसी तरह की विचित्रता है। उसके सारे व्यापार किसी न किसी तरह काम (Sex) के आस-पास ही घटित होते हैं। वह हरिप्रसन्न को लाना चाहता है, हरिप्रसन्न गलत राह से जा रहा है, उसे सन्मार्ग पर लाना चाहता है, हरिप्रसन्न को सत्या का ट्यूशन दिलाना चाहता है, दिल्ली छोड़कर किसी मुकदमें की पैरवी के वहाने कानपुर चला जाता है, वहाँ जरूरत से अधिक ठहर जाता है, लिख देता है कि अभी तीन-चार दिन और अधिक उसे ठहरना है। इतना लिख तो देता है, पर फिर भी समय से पहले आ जाता है और घर में ताला लगा पाता है। मानो Voyeur का पार्ट अदा करता है।

मैंने अन्यत्र Voyeurism की व्याख्या की है और कहा है कि कुछ लोगों में किस तरह दूसरों के काम-रहस्यों को छिपकर देखने की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। चौथे अध्याय में भी श्रीकान्त के चरित्र के एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक पहलू की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। कुछ लोगों में अपनी प्रेमिका या प्रणयी के निर्वाचन में एक विचित्रता होती है। वे कुमारियों के लिये प्रणय मनोद्वेलित हो ही नहीं सकते। वे सदा विवाहिताओं से तथा दूसरे की प्रेमिकाओं से ही प्रेम कर सकते हैं। उन्हें 'परकीया' नायिका ही प्यारी लगती है।

साहित्य व काव्य के पाठक के लिये परकीया नायिकायें अपरिचित नहीं हैं। वेदों में भी 'जोपा जारं मिव प्रियम्' कहकर भगवद्भक्ति का वर्णन किया गया है। पर उस परकीया प्रेम और आधुनिक मनोवैज्ञानिक परकीया प्रेम में बहुत अन्तर है। पहले परकीया प्रेम की प्रथा तो थी पर परकीया प्रेमी अपने व्यापार के वास्तविक स्वरूप से पूर्णरूपेण अवगत रहता था। वह परकीया प्रेम करता था, वह खूब समझता था, अर्थात् उसका मस्तिष्क पूर्णरूपेण अवगत था कि यह निषिद्ध व्यापार है, समाज के द्वारा उसे अनुमोदन प्राप्त नहीं। अतः इस कार्य में, लुक-छिप कर ही प्रवृत्त होना चाहिये। मेरा लड़का सिगरेट पीता है जरूर, पर मैं सामने पड़ जाता हूँ तो वह सिगरेट छिपा देता है। मतलब सिगरेट पीने की लाचारी उस पर है तो सही, पर शारीरिक लाचारी है, मनोवैज्ञानिक नहीं। सिगरेट पीने की मनोवैज्ञानिक लाचारी तब कही जा सकती है जब यह पता चले कि पीनेवाले को वह आनन्द मिलता है जो बच्चे को माँ के स्तन चूसने में, या अंगूठा चूसने में मिलता है और वह अपनी मौखिक मैथुन वृत्ति को तृप्त करता है। उसी तरह की विकृति, असाधारणता श्रीकान्त में भी है। उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं है, चारों ओर निरानन्द का वातावरण है। कोई कारण नहीं दीख पड़ता। सुनीता अनिंद्य यौवना है, लाखों में एक है। अनुगता तो है ही। शिक्षिता है, किसी आधुनिका से कम नहीं है, शेक्सपीयर तथा बर्नार्ड शॉ को पढ़ती है, वाइलिन बजाती है तो वातावरण में समाँ बँध जाता है। अब प्रेमानन्द के लिये क्या कमी रह गयी? पर फिर भी यह बात सम्भव नहीं दीखती। वह पत्र में लिखता है—"मैं वकालत करता हूँ और वह बेचारी कुछ-कुछ साथ देती रही है, पर हम दोनों का आन्तरिक मेल नहीं। मैं उसे रीझा नहीं सकता दीखता। और तुमको मालूम है, उसके हर साल एक से एक बढ़कर पाणि-प्रार्थी युवा लोग मैदान में आते-जाते थे।"

यहाँ पर वकालत की बात की जा रही है, पर जिस ढंग से रूपक यहाँ बाँधा गया है उससे स्पष्ट है कि यहाँ पर वकालत = पत्नी सुनीता। वकालत =

विद्वान विचारक भी इसे संदेहात्मक दृष्टि से, मशकूक नजरों से, देखेंगे। अंग्रेजी में तो इस तरह के अध्ययन की लम्बी-चौड़ी परम्परा है। प्राय: सब साहित्यिकों का अध्ययन इस ढंग से किया गया है। पर हिन्दी में यह पद्धति अभी भी अनजानी है। एक उदाहरण दूं। मैंने अंग्रेजी में एक लेख लिखा था, 'संस्कृत-साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' (Psychological approach to Sanskrit Literature)। उसे मैंने डा० ग० स० महाजनि, उपकुलपति, उदयपुर, विश्वविद्यालय, उदयपुर, को पठनार्थ दिया। डा० महाजनि वड़े प्रकाण्ड विद्वान, चिन्तक तथा गणित के प्रोफेसर होते हुए भी साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति हैं। उन्होंने उस लेख के पढ़ने के वाद एक पत्र में जो प्रतिक्रिया प्रगट की, वह ज्यों-की-त्यों उद्धृत है :

23.1.65

Dear Dr. Upadhyaya,

Thank you for your letter and the article on Psychological approach to Sanskrit Literature.

Your approach is no doubt clever and ingeneous. I wonder if people will agree with the line of reasoning. I agree with you when you say,

"No approach which brings out some truth about the book under discussion can be said to be unprofitable".

But we must be convinced that the approach does bring out some truth.

Personally I feel that there is a simple rational explanation for the delay on the part of Hamlet in wreaking vengence. After all what evidence had he of his uncle's guilt, beyond what the ghost told him ? Can you rely on impression gathered by "interviews" with ghosts ? Do ghosts exist ? Quite rightly, Hamlet decided to seek confirmation by arranging the play within the play.

Again, your explanation for the individual behaviour of the Kings before Indumati appears to me far-fetched such behaviour is common when one is under nervous tension—say when candidates appear before an interview board. They do unnecessary movements with their hands and legs. To import Freud's ideas may be clever and all that but I am not convinced.

In my view Freud can be forgotten without any loss.

Yours sincerely
G. S. Mahajani

सुनीता, हम श्रीकान्त । दोनों में मेल नहीं है—सुनीता और श्रीकान्त में नहीं बनती। पाणि-प्रार्थी युवा लोग मैदान में आते-जाते हैं। अचेतन की इच्छा है कि सुनीता और श्रीकान्त के बीच एक तृतीय पार्टी, आवे ताकि दोनों में प्रेम का रस उमगे। यह श्रीकान्त के अचेतन व्यक्तित्व की कोड-भाषा है, छद्म भाषा है, जिसे de code कर, जिसका कौशलपूर्वक छद्मावरण भंग कर पढ़ना पड़ता है। यों भी मैंने एक सिद्धान्त-सा बना लिया है कि प्रत्येक साहित्यकार मिथ्यावादिन है, मनोवैज्ञानिक अर्थ में (Psychopathological sense of the term) और आलोचक मिथ्याभेदिन है (Lie detector) है। जैनेन्द्र के सारे पात्र मानोवैज्ञानिक छद्म से आवरित है। उनके रहस्य का उद्‌घाटन बिना मनोवैज्ञानिक रश्मि के नहीं हो सकता है। श्रीकान्त एक ऐसा व्यक्ति है जिनमें प्रण्योद्वेग को स्पंदित करने के लिए एक आहत तृतीय व्यक्ति की आवश्यकता है (necessity of injured third party)

फ्रायड ने अपने लेख Choice of love object में ऐसे व्यक्तियों के मनोविज्ञान का खूब विश्लेपण किया है और कहा है कि कुछ व्यक्तियों में तो यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि अपनी ओर से भी ऐसी परिस्थिति निर्माण करते हैं कि उनकी प्रेयसी को किसी तीसरे व्यक्ति के संपर्क में आना पड़े। जहाँ उन्हें पता चला कि उनकी प्रेयसी दूसरों से प्रेम करने लगी कि उनके हृदय में भी उसके लिए प्रेम का स्रोत खुल पड़ा।

सत्या में भी Voyeurism की प्रवृत्ति है। वह हरिप्रसन्न और सुनीता की बातों को लुकछिपकर सुनती है। मुझे तो आश्चर्य होता है जबकि सुनीता श्रीकान्त को उस भयानक रजनी में अपनी कार से टकरा कर मरते-मरते बचते देखती है, पर कुछ भी नहीं करती। क्या इस तरह की परिस्थिति में देखा जाना उसे असह्य था? अथवा यह मानस को उस स्थिति का विजृंभण तो नहीं था जिसे हम Hallucination कहते हैं। मिथ्या ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष (false sense impression) को हेलुसिनेशन कह सकते हैं। उदाहरणार्थ चित्त की असाधारण अवस्था में मनुष्य ऐसी वस्तु देखने लगता है जो वहाँ है ही नहीं। ऐसी आवाजें सुनने लगता है जिसके होने की संभावना भी नहीं। कोई अशरीरी वाणी को वह बराबर घोषणा करते हुए सुनता है कि वह अपने पापों के दण्ड-स्वरूप मृत्यु-दण्ड से दण्डित होनेवाला है इत्यादि। मुझे ऐसा लगता है कि श्रीकान्त की अनुपस्थिति में हरिप्रसन्न से सुनीता जिस प्रकार घनिष्ठ होती जा रही थी उस पर उसका मन प्रसन्न नहीं था, वह अपराध भावना (guilt-feeling) से ग्रस्त थी। वह चाहती थी कि उसका छद्म किसी तरह पकड़ा

जाय और वह भर्त्सना की शिकार बने।

अतः उसके अन्तर्मन ने दो परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में ही अपना कल्याण समझा : (१) उसके दुष्कर्म से श्रीकांत परिचित हो और उसे यथोचित दण्ड देकर उसे अपराध भावना से मुक्ति दे (२) अथवा श्रीकान्त का अस्तित्व ही मिट जाय, पर फिर भी वह दोनों में किसी भी विकल्प को भी पूर्णरूपेण ग्रहण करना नहीं चाहती थी। वह चाहती भी थी और नहीं भी चाहती थी कि वह रंगे हाथों पकड़ी जाय अथवा श्रीकान्त मर जाय। उसमें वह प्रवृत्ति काम कर रही थी जिसे मनोवैज्ञानिकों ने Ambivalent Tendency कहा है। आखिरकार इसे मानने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है कि सुनीता बड़े ही अन्तर्मानिस संघर्ष की अवस्था से गुजर रही थी और इस अवस्था में उसका मानस जो न कल्पना का ताना-बाना बुने वही थोड़ा है।

हमें आश्चर्य होता है, सत्या के व्यवहार पर। वह छोटी-सी लड़की। नहीं, छोटी नहीं। लेखक ने उसे १८ वर्ष की बताया है, पर लेखक की बात कौन ले। वह तो यों ही कहता रहता है। उसे अपने भावों को प्रकट करने के लिए कुछ शब्द चाहिये। जो ही शब्द सामने आ जाय उनसे ही काम ले लो। कालिदास रहते तो 'अनाघ्रातं पुष्पम्, किसलयम्, अलूनम्' भी कह सकते थे। जैनेन्द्र सत्या की चर्चा करते हुए कहते हैं, "पर अठारह बरस की लड़की को कभी आप अनजान न समझ लीजिएगा। नहीं तो खतरा खाइयेगा। उसकी आँखें जो देखने की हैं, सो तो देखती ही हैं, पर उसका मन जो नहीं है, वह भी उसे अनदेखे हुए में पढ़ लेता है। पर वह खट्टा मीठा मन सब कुछ भीतर ही भीतर संजोए रखता है। बखेरता नहीं।" यही सत्या कानपुर से श्रीकान्त के लौट आने पर न जाने कितना प्रयत्न करती है, कितना षड्यंत्र करती है कि श्रीकान्त उस रात को अपने घर पर न जावे और ताला बंद पावे।

मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह ऐसा क्यों करती है। इसका साधारण उत्तर तो यही है कि यदि श्रीकान्त उस रात को सुनीता को घर पर न पाकर हरिप्रसन्न के साथ बाहर गई हुई पायेगा तो उसके हृदय पर बड़ा ही दारुण आघात पहुँचेगा और संभव है इसके कारण उनके सारे दाम्पत्य जीवन ही पर विपत्ति आ जाय। आखिर सत्या जो कुछ हो, पर मनोविज्ञान की प्रक्रियाओं का तो उसे ज्ञान नहीं था। वह मानो वैज्ञानिकों के अगम्य गगन (Love for Harlot) अथवा तृतीय आहत पक्ष (Necessity of injured third party) की बात क्या जाने। यह व्याख्या ठीक भी होगी और व्यावहारिक जगत के लिए यह पर्याप्त भी होगा, पर मनोवैज्ञानिक यह कहेगा कि

सत्या, सुनीता की अननुमोदनीय आचरण के रहस्योद्घाटन पर पर्दा नहीं डालना चाहती थी, वह अपने भण्डाफोड़ से डरती थी।

उसने सुनीता के साथ अपना तादात्म्य कर लिया था, वह स्वयं सुनीता वन गई थी, उसने अपने को सुनीता के साथ identify कर लिया था और समझने लगी थी कि सुनीता का रहस्योद्घाटन उसके स्वयं का रहस्योद्घाटन है। इसीलिये वह आकाश पाताल का बुलावा एक करती है कि सारे रहस्य खुलने न पावें। पाठक देखेंगे कि सत्या का व्यवहार जो हरिप्रसन्न के साथ होता है, उसमें विचित्र जटिलता है। वह उससे पढ़ती तो है, पर उससे अप्रसन्नता भी प्रकट करती है। उसे तंग भी करना चाहती है। चाहती है कि उसके स्वागत में जो भोज्य सामग्री वनी है उसमें अधिक नमक या मिर्च डालकर उसे वेस्वाद् वना दे, ताकि सारा मजा किरकिरा हो जाय। यह व्यवहार साधारण नहीं है। यदि इसे साधारण मानना है तो इसके अन्तराल में चलती रहनेवाली प्रवृत्तियों के आधार पर ही समझना होगा।

अव हम ग्रंथियों पर आते हैं। भौतिकशास्त्र (Physics) में जो स्थान शक्ति (Energy) का है, मनोवैज्ञानिक जगत में वही स्थान ग्रंथि का है (Complex) का है। Complex का अर्थ है, भावाक्रान्त विचार (emotionally toned ideas)। मनुष्य के अन्दर कुछ इसी तरह के भावाक्रान्त विचार (Emotionally toned ideas) जमकर घर किये रहते हैं। वे व्यक्ति में एक विशेष ढंग से प्रतिक्रिया करने का तत्परत्व वनाये रहते हैं और वह कहीं से थोड़ा संकेत पाते ही अपने पूर्व निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। उदाहरणार्थ मैंने ऊपर की पंक्तियों में तथा चतुर्थ परिच्छेद में भी कहा है कि श्रीकान्त में harlot complex है, वह वेश्यागामी है। वह सती के प्रेम से संतुष्ट होने वाला नहीं है, वह असती के लिये ही प्रेमोद्वेलित हो सकता है। उसके सारे प्रयत्न इसी ओर है कि वह सुनीता, अपनी पत्नी में असतीत्व की विवशता पैदा कर दे और तव उसे प्यार करे। यही वात होती भी है। जव हरिप्रसन्न आ जाता है तव श्रीकान्त में सुनीता के लिये प्रेम के भाव जगने लगते हैं। कानपुर से लौटने पर जव श्रीकान्त को अपनी मनोवैज्ञानिक सफलता का पक्का प्रमाण मिल जाता है तव तो मानो श्रीकान्त का रग-रग सुनीता में नया रंग देखकर प्रेम से तड़पने लगता है। मेरी तो कल्पना है, यदि किसी मनोविश्लेषक का ध्यान श्रीकान्त की ओर गया तो जैनेन्द्र के उपन्यासों के पात्रों का उसी तरह विश्लेषण होगा जिस तरह 'हेमलेट' और 'मेकवेथ' का किया गया है।

सुनीता के प्रारंभिक पृष्ठों में ही पढ़ने को मिलता है, "वात यह है कि पानी

वहते-वहते कहीं बंध गया है। उसे खुलना चाहिये। जीवन को कुछ बहिर्गमन मिले और घर के भीतर की गृहस्थी को घर से बाहर की दुनियाँ का अधिक और संसर्ग, अधिक और संघर्ष मिले तो शायद कुछ रस की सृष्टि हो, चैतन्य जगे।" इन पंक्तियों पर किसी तरह की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। उपन्यासकार का दृष्टिकोण स्पष्ट है। २३वें परिच्छेद में है, "श्रीकान्त मन ही मन उलझन में पड़ गया। हरी की आत्मा में कहाँ गाँठ पड़ी है कि वह अतर्क्य होता जाता है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता। यह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है···जान पड़ता है कि अपने भीतर कुछ लेकर उसका मुकाबिला करते हुए ही वह अपने का विता रहा है और बीत रहा है पर उसके मन की घुण्डी कौन-सी है जिसको तोड़ने के लिये वह रिवाल्वर तक आ पहुँचा है, सो हाथ नहीं आता।" आप ध्यान से देखें, किस तरह उपन्यासकार क्रमशः आगे बढ़ रहा है। पहले "पानी बहते-बहते कहीं रुक गया है" पर यहाँ पर आत्मा में कहाँ गाँठ पड़ी है···'मन की घुण्डी तोड़ने, तक की बात आ गई हैं। मनोविज्ञान जो पहले दबे स्वर में बोलता था अब उसका कंठ फूट रहा है और वह साफ बोलने लगा है। एक बात की ओर भी मेरा ध्यान जाता है। यदि मनोविज्ञान के ग्रंथों को देखा जाय तो वहाँ पर रिवाल्वर को Phallic Symbol माना गया है। वह मनुष्य के मैथुनेन्द्रिय का प्रतीक है। यदि कोई स्वप्न देखे कि He is shooting a cow तो उसका अर्थ यह है कि वह नारी-संभोग कर रहा है। मेरी कल्पना यह होती है कि "उसके तोड़ने के लिये रिवाल्वर तक आ पहुँचा है" इसे स्वप्न-वाक्य मान लिया जाय तो क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि वह नारी-संभोग का प्रतीकात्मक अभिनय कर रहा है। कभी-कभी मैं इस मनोरंजक कल्पना में भी मग्न हो जाता हूँ कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में रिवाल्वरों के उठ जाने को इतना क्यों महत्व दिया गया है। सुनीता में रिवाल्वर है, सुखदा में भी है, विवर्त में भी है, यहाँ तक कि ट्रेन के एकान्त में 'जयवर्द्धन' जैसे विवेचनात्मक उपन्यास में भी रिवाल्वर तन ही जाता है, भले ही वह मार न कर सके।

सुनीता उपन्यास में आकर जैनेन्द्र के उपन्यासकार के मन में यह बात जम गई सी मालूम पड़ती है कि कला तथा साहित्य के मूल में मानव की ग्रंथियाँ ही काम करती है। मनुष्य कला-कृति के द्वारा अपनी मनोग्रंथियों से ही मुक्ति पाने की चेष्टा करता है। हरिप्रसन्न के जीवन की सार्थकता और कुछ न हो, पर यदि वह सुनीता के व्याज से 'ओ तू' शीर्षक दिव्य-कला-कृति की सृष्टि कर सकता है कि कहा जा सका तो वह जीवन व्यर्थ नहीं गया और वह नारी

भी धन्य हैं जो इस दिव्य-प्रेरणा का माध्यम वन सकी। इस दृष्टि से सुनीता का अन्तिम पृष्ठ वहुत ही नेत्रोन्मीलक है जिसमें कलाकार ने अपनी कला के रहस्य को ही प्रकट कर रख देता है। आप ध्यान से पढ़ें—

"सुनी, मैं दावे से कहता हूँ, इस तस्वीर की कीमत वहुत है। एक सौ नहीं, कई सौ हैं। हम इसके लिये ईश्वर के और हरिप्रसन्न के कृतज्ञ हैं। कीमत के लिये नहीं, तस्वीर के लिये।···हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, वेचैन रहता है। उसके लिये वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिये है, उसके लिये वह गाँठ है। वह गाँठ उसे तो मौत लाती है, किन्तु उस हिरन के पास वह ही एक ईश्वर की देन है। उसे ही वह दुनियाँ को दे सकता है। दुनियाँ उसी को कस्तूरी कहती है, उसी पर रीझती है, उसी के लिए उसे मारती है।···यह चित्र, सुनीता, हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है। यह वह है जिसे हम आर्ट कहेंगे और वहुमूल्य वनायेंगे। इसीलिये तो कि इसमें वँधा है, प्रतिक्षण उसके लिये, प्रत्येक अणु में स्पंदित होता रहनेवाला वह प्रश्न—वह जिज्ञासा, वह आकांक्षा, जो हरिप्रसन्न के जीवन का जीवन थीं, जिसने उसे सदा ही भटकाये रक्खा। आज क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलक्ष तुम वनी? हाँ, तुम। मैं इसके लिये तुम्हारा चिर कृतज्ञ हूँ, सुनीता। दुनियाँ अव यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ वनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्वन्ध में मेरा पतित्व इस कलाकृति में भरी व्यथा के समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है।······"

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र का तीसरा उपन्यास है। सुनीता के प्रकाशन के वाद ही जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य में विवाद तथा चर्चा के विषय वन गये थे। विशेषतः जँगल का वह प्रसँग जहाँ पर हरिप्रसन्न के करुणा-विगलित आग्रह पर सुनीता उसके सामने सर्वस्व समर्पण के लिए निरावरण हो जाती है, उसको लेकर वहुत ही समुद्र मंथन हुआ। पक्ष और विपक्ष में वहुत सी वातें कहीं गईं। परन्तु 'त्याग-पत्र' में आकर वह विवादास्पद औपन्यासिक व्यक्तित्व और भी उलझा वन गया। ऐसा लगता है कि उपन्यास हमारी सारी प्रचलित मान्यताओं के खोखलेपन को दिखाकर झकझोर देना चाहता है, उन्हें व्यर्थ या गलत वताकर हमें पुनर्विचार करने को प्रेरित करता है। जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई थी वह हिटलर के प्रताप-सूर्य के विकास का काल था, फ्रायड के मनोविश्लेपण का अध्ययन, पठन-पाठन हिन्दी के पाठकों में होने लगा था। राजनीति के क्षेत्र में shock tactics तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में shock therapy ये दो शब्द

बहुत प्रचलित थे। मतलब कि यदि अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करना है तो उस पर बाहर से आक्रमण तो करो ही, पर उसे अन्दर से तोड़ने का प्रयत्न करो, मानसिक आघात दो और वह आघात ऐसा हो कि उसकी नस-नस को हिला दे, वह demoralise हो जाय। उसी तरह मानसिक रोगों की चिकित्सा में रोगियों को निस्संज्ञ अवस्था में ले जाकर उसके मस्तिष्क में बिजली के धक्के दिये जाते हैं। रोगी तड़पता है, देखनेवाले को रोगी की दशा पर बड़ी दया आती है, पर कहा जाता है कि रोगी को कोई पीड़ा नहीं होती। कहाँ तक यह बात ठीक है मुझे व्यक्तिगत रूप से मालूम नहीं। पर इतना तो सही है कि बिजली के धक्के खाने के बाद जब रोगी की संज्ञा पुनः लौट आती है तो उसे मानसिक स्वास्थ्य की अनुभूति अवश्य होती है। पता नहीं किस रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा इस छोटे से उपन्यास में मनोचिकित्सकों की shock therapy वाली पद्धति अपने पूरे उरुज पर आ गई है। इसमें जैसी बौद्धिक चुनौती है, intellectual challenge है, वह हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं है। 'चित्र-लेखा' का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है पर उसमें वैसा सीधा प्रहार नहीं। वह देखने को छोटी भी नहीं और उतना गम्भीर घाव भी नहीं करती।

राजनीति में shock tactics मनोविज्ञान में shock therapy, 'चित्र-कला में abstract art और जैनेन्द्र के उपन्यास में बौद्धिक चुनौती (intellectual challenge), इस तरह हम देखते हैं कि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में मूलगत एकता है। यहाँ मनोविज्ञान के सन्दर्भ में जैनेन्द्र के उपन्यास पर विचार हो रहा है। शायद मैं यह कहने का साहस नहीं करता कि मनोविज्ञान के shock therapy से प्रभावित होकर ही जैनेन्द्र ने त्यागपत्र की रचना की है, पर अभिव्यक्ति की इन सब क्षेत्रों में एक सुनियोजित तरह की एकता देख कर एक आह्लादजनक आश्चर्य तो होता ही है। युग के वातावरण में उसकी प्राणवायु अनिंद्य भाव से संचरित होती रहती है। अपने स्पर्श से प्रत्येक क्षेत्र में सजीवता प्रदान करती रहती है और अपने रूप को प्रगटित करती रहती है। एक अंग्रेजी विचारक के शब्दों में "It is amazing how compact a unity even historical epoch presents throughout its various manifestations" अर्थात् कोई ऐतिहासिक युग विशेष अपनी विविध अभि-व्यक्तियों में जिस सुगठित एकता को प्रदर्शन करता है उसे देखकर आश्चर्य होता है। अतः विविध अनुशासनों के साथ हिन्दी कथा साहित्य एकता के भाव प्रदर्शित करे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

'त्यागपत्र' की कथा बड़ी सीधी-सादी है। मृणाल एक अनाथ बालिका

है—इस अर्थ में कि उसके माँ-बाप बचपन से ही मर जाते हैं। भाई तो उतना अनुशासन-प्रिय नहीं, पर भाभी उसकी छोटी-सी भूल पर उसे दण्डित करती है और उसका विवाह एक अधेड़ नवयुवक से हो जाता है। सच्ची सती के रूप में वह अपने पूर्व वैवाहिक प्रेम प्रसंग की भी चर्चा अपने पति से कर देती है। तभी से उस पर आफत आती है। पति उसे त्याग देते हैं। पति-त्यक्ता नारी को उसके मायके वाले शरण देने के लिए तैयार नहीं हैं। वह एक कोयले वाले के साथ रहने लगती है। वह भी छोड़ जाता है, उसका भतीजा प्रमोद जो पहले उसे प्यार करता था और अब तो जज हो गया है, उसे नारकीय जीवन से हटा कर फिर से सभ्य समाज में लाना चाहता था, पर वह नहीं लौटती। धिक्कृत जीवन व्यतीत करती हुई बड़ी दर्दनाक मृत्यु को प्राप्त होती है।

अब प्रथमत: इस उपन्यास की कथावस्तु पर विचार कीजिये। कथा के पात्र ऐसे हैं जो बड़े ही अच्छे मनोवैज्ञानिक केस हो सकते हैं। मातृ-पितृ हीन बालक मनोवैज्ञानिकों के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करते हैं। प्रेम से वंचित रहने के कारण उनमें अनेक तरह की ग्रन्थियाँ बैठ जाती हैं और उन्हें जीवन भर बेताब किये रहती हैं। मृणाल अनाथ बालिका है। ऐसा पात्र अभी तक जैनेन्द्र के हाथ नहीं लगा था, कट्टो गरीब तो है, विधवा भी है। विधवा भी अच्छी मनोवैज्ञानिक केस होती है, पर चूँकि बचपन में उसे पिता-माता का स्नेह मिला था इसीलिए उसके व्यक्तित्व का संगठन अधिक समाकलित (integrated) ढंग से हुआ था। यही कारण था कि विपरीत घटनाओं की टक्कर से वह बिखरने नहीं पाई। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से बचपन के प्रारंभिक कुछ वर्ष बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। उन्हीं दिनों व्यक्ति की जीवन-शैली का निर्माण हो जाता है कि व्यक्ति परिस्थितियों का सामना किस तरह करेगा, डटकर मुकाबिला करेगा या दुम दबाकर भाग जायेगा। मेरी कल्पना है कि, यद्यपि उपन्यासकार ने कुछ कहा नहीं है, मृणाल के प्रारंभिक दो-चार वर्षों के जीवन में उसके मनोवैज्ञानिक मंथन का पर्याप्त अवसर मिला होगा। वह सबसे कनिष्ठ संतान थी, पिता-माता की अत्यधिक दुलार की अधिकारिणी रही होगी। अतः प्रेम पाने की आकांक्षा उसमें बड़ी गहराई से जम गई होगी। मैं उपन्यासकार नहीं हूँ, पर यदि मनोवैज्ञानिक कथाकार हो तो अपनी कल्पना द्वारा वह मृणाल के शैशव कालीन जीवन के इतिहास पर अच्छे उपन्यास की रचना कर सकता है। आश्चर्य होता है कि किसी उपन्यासकार की दृष्टि इधर क्यों नहीं जाती। जब कभी किसी प्रतिभावान कथाकार में मनोवैज्ञानिक जुम्बिश आयेगी तो मृणाल की कब्र से लौ निकलती दीख पड़ेगी। हम तब तक धैर्य से प्रतीक्षा

करेंगे।

जैनेन्द्र ने भी मृणाल के वचपन की थोड़ी बातें कहीं हैं। "अकेली यह छोटी बुआ ही रह गई थी। पिताजी उसको बड़ा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छाएँ पूरी करते थे। पिताजी का यह स्नेह, उन्हें विगाड़ न दे, इस बात का मेरी माता को खासा ख्याल रहता था। वह अपने अनुशासन में सावधान थी। मेरी माँ बुआ को प्रेम नहीं करती थी, यह तो किसी हालत में नहीं कहा जा सकता, पर आर्य गृहिणी का जो आदर्श था, मेरी बुआ को भी वे ठीक उसी के अनुरूप ढालना मनोवैज्ञानिकों के Complexes की तथा माँ पुत्री को प्रतिद्वन्द्वी-समझती हैं, तथा पिता पुत्री के प्रति अतिकोमल धारणा रखता है, इन मान्यताओं की झलक यहाँ पर स्पष्ट है। अपने पतिगृह जाने के पहले अथवा पति को छोड़कर कोयले वाले के पास जा वैठने के पहले मृणाल के सम्वन्ध में जो सूचनायें दी गई हैं, वे अपर्याप्त अवश्य हैं पर वे symptom की तरह की वस्तुयें हैं, जिनमें अर्थ-गर्भत्व रहता है, जो अपने गर्भ में वहुत लम्बा-चौड़ा इतिहास छिपाये रहती है। जैनेन्द्र में तो यही तो कठिनाई है कि उनके उपन्यास वोलते कम हैं, ध्वनित अधिक होते हैं, अर्थात् पाठकों को अपने भीतर झाँक कर देखने की प्रेरणा देते हैं। अपने भतीजे को गोद में चिपका लेना, चिड़िया वनने की वात करना, शीला के भाई के प्रति आकृष्ट होना, ये सारी बातें अर्थ-गर्भ हैं। वे symptoms जिनके सहारे मूल मानसिक रोग का निदान किया जा सकता है। इसका अर्थ यही है कि वह अपने जीवन की स्वीकृति चाहती थी। वह एक अस्वीकृत वालिका थी, वह मानस-जगत में स्वीकृति की तृप्ति प्राप्त करने वाली ही थी कि पिता-माता चल वसे। भाभी से कुछ मिला, वह वेंत की छड़ी मिली; वह गोद नहीं मिली जिसकी गोद में वह दुवक कर चैन की साँस ले सके। वह देखना चाहती है कि पति-पुरुष का हृदय इतना विशाल है कि उसे उसके वास्तविक रूप में स्वीकार कर सके। पर यह भी उसका भाग्य नहीं हो सका। पति और भी अनुदार तथा संकुचित हृदय निकला। मृणाल ने सतीत्व के सत्वगुणोद्रेक में आकर अपने पति से शीला के भाई के साथ अल्पकाल जीवित प्रेम-व्यापार की कहानी कह दी। कह क्या अपने ऊपर आफत वर्षा कर दी। पति के कौलीन्य के लिए असह्य हो गया और उन्होंने उसे निकाल दिया।

मैंने यहाँ पर मानसोपचार गृह (Psycho-analytic Clinic) खोल ही दिया है। पात्रों के व्यापार का लक्षण (Symptoms) मान ही लिया है और उसी के सहारे रोग का निदान करने की प्रतिज्ञा कर ही ली तो इस लक्षण का भी निर्वाचन (interpretation) करने दीजिये। लक्षण है मृणाल का अपने

पति से शीला के भाई के साथ प्रेम कथा को कहना। प्रश्न है, वह इतनी बड़ी भूल क्यों करने गई जिसके कारण उसका जीवन ही चौपट हो गया। वह स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने क्यों गई? क्या वह इसके भयावह परिणाम से परिचित न थी। मृणाल अब संसार में है नहीं कि उससे पूछा जाय और इस समस्या पर थोड़ा प्रकाश पाया जाय। मृणाल के जनक जैनेन्द्र अवश्य वर्तमान हैं और उनसे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है पर आचार्यगण मना करते हैं, कहते हैं कि वहाँ जाकर क्या करोगे।

कविः करोति काव्यानि स्वादं जानन्ति पंडिताः
पार्वत्याः रसास्वादं हरो जानाति न भूधरः।

और जो आलोचक मृणाल का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर रहा है चीर-फाड़ कर रहा है उससे अधिक पंडिताई किसमें होगी भला। भले ही यह शल्य-क्रिया बड़ी महँगी पड़े और मृणाल के जीवन पर ही बन आये, पर डाक्टर को इसके लिए फाँसी नहीं दी जा सकती है।

हाँ, तो प्रश्न है मृणाल की इस आत्मापराध रूपी लक्षण का अन्तस्वरूप विवेचना का मेरी दृष्टि में, यह तो एक अस्वीकृत बालिका (rejected unwanted child) की ओर से जीवन स्वीकृति पाने का प्रयत्न है और कुछ नहीं। वह चाहती है कि यह तो उसका पति है जिसकी गोद में आकर उसे सब बन जाने की अनुमति है, जिसके लिये 'ग्रामोफोन के रिकार्ड में' जैनेन्द्र ने कहा ही है 'सैंया तेरी गोद में गेंदा बन जाऊँगी। भूख लगे पिया हमसे तू कहना, पूड़ी, कचौड़ी, जलेबी बन जाऊँगी। सैंया तेरी गोदी में······' वैसे पति के पास वह सब तो सर्वभावेर्म समर्पित होना चाहती है। यदि वह स्वीकृति दे देता है तो ठीक है, नहीं तो इस धिक्कृत जीवन को जो होना हो, सो हो। हम देखते हैं कि पति के द्वारा उसे स्वीकृत नहीं मिलती। उसके बाद जो हुआ वह सबके सामने है, उसे वही होना था। जज साहब के द्वारा एक बार पुनः स्वीकृति देने का नाटक होता है, पर बड़ी देर हो गई थी। It was too late अब लौटना सम्भव न था, इसीलिये वह जज साहब को जो उत्तर देती है, वह विश्व साहित्य तो कैसे कहूँ, पर हिन्दी कथा-साहित्य के लिये तो एक विचित्र मनोवैज्ञानिक दस्तावेज (Psychological document) है ही। वह मनोवैज्ञानिक रक्षा कवच (Defence mechanism) की वह प्रक्रिया है जिसे rationalisation कह सकते हैं। पर वह rationalisation भी उतना नहीं है जितना मुक्त आसंग (Free association) विचार प्रवाह है। ऐसा लगता है कि किसी मनोविश्लेपक ने अपनी मनोवैज्ञानिक बैठक में चिकित्सेय व्यक्ति से कोई प्रश्न पूछ दिया हो,

अथवा ऐसा प्रसंग छेड़ दिया हो, जिसके द्वारा व्यक्ति की दुखती रग पर अँगुली पड़ गई हो और वह अन्दर से कराह उठा हो, वह भाप जो अवरुद्ध थी फूट पड़ी हो।

एक शायर ने कहा है—

लेके चुटकी में नमक आँख में भर कर आँसू,
इस पर मचले हैं कि दर्द जिगर देखेंगे।

मेरे लिये कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं कि जिस समय जज साहब मृणाल से उस नरक कुण्ड से निकल कर सभ्य समाज में आने के लिये प्रार्थना कर रहे होंगे, उनकी आँखों में आँसू अवश्य ही होंगे, और वह असहाय मृणाल जिसने अपनी त्वचा की छाल निकाल कर समाज को दे दिया था, उसको सहारा देकर उठाने के लिये उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया होगा तो उनकी चुटकी में रहनेवाला सामाजिक नमक उसके अरक्षित माँस-पिण्ड में अवश्य प्रवेश कर गया होगा। तभी तो वह ऐसी कराहती है जिसका कोई जवाब नहीं है।

पर अफसोस यही है कि जज साहब मनोवैज्ञानिक नहीं थे। उन्हें समझना चाहिये था कि मृणाल के हृदय में जमकर बैठी हुई भाप के निकलने का अवसर आया है। इससे मृणाल के मानसिक स्वास्थ्य में अवश्य सुधार हुआ होगा। कुछ और मनोवैज्ञानिक बैठकें करें तो मृणाल के हृदय में रही-सही ग्रन्थि भी खुल जायगी और वह पूर्ण रूपेण मानसिक स्वास्थ्य लाभ कर समाज का सदस्य बन जायगी। पर अफसोस है कि जज साहब घबड़ा गये। वहाँ की प्रगटित ज्वाला को देखकर सन्तुलन खो बैठे और जजी से त्यागपत्र देकर सन्यास ले बैठे। एक मनोवैज्ञानिक कभी भी ऐसा नहीं करता। वह इसे भगवद् प्रदत्त स्वर्ण अवसर समझता और इससे लाभ उठाता। मेरी कल्पना है कि जज साहब तो जीवित हैं ही, किसी पर्वत की गुफा में तपस्या कर रहे हैं। वे फिर भी संसार को दर्शन दे सकते हैं, पर मृणाल भी जीवित है। उपन्यासकार को उसकी मृत्यु की गलत सूचना मिल गई है। यदि उसे खोजा जाय ताकि किसी सलम एरिया (Slum area) के गटर में ही सही—पर मिलेगी जरूर और उसका उद्धार भी किया जा सकता है। वहाँ कथाकार कैसा है जो उसे अनाथ छोड़ देता है। अरे भाग्य ने तो उसे अनाथ बनाया ही था। आदमी उसे क्यों अनाथ बनाये। Where nature has been unkind a man, can; at least, afford to be kind.

मैंने जब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का विवेचन रवीन्द्र के कथा-साहित्य के प्रसंग में किया था और सब औपन्यासिकों को एक उपन्यास लिखने के लिये

प्रिय डा० उपाध्याय,

आपके पत्र तथा 'संस्कृत साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' शीर्षक लेख के लिये धन्यवाद !

निस्संदेह आपका दृष्टिकोण चातुर्यपूर्ण एवं सूझबूझ वाला है। पता नहीं, लोग कहाँ तक इसकी तर्कपद्धति से सहमत होंगे। आपके इस कथन से मैं सहमत हूँ कि कोई दृष्टिकोण यदि आलोच्य कृति के संबंध में किसी सत्य का उद्घाटन करे तो उसे अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता।

पर हमें संतोष तो होना ही चाहिए कि यह दृष्टिकोण किसी सत्य को सामने ला रहा है, तो सही।

व्यक्तिगत रूप में मेरा विचार यह है कि हैमलेट, जो प्रतिशोध लेने में विलम्ब कर रहा था, उसका सीधा-सादा तथा बोधगम्य कारण था। आखिरकार उसके पास अपने पितृव्य के अपराध का क्या प्रमाण था, सिवा भूत के कथन के ? भूतों के साथ 'मुलाकात' पर बनाई धारणा पर विश्वास किया जा सकता है ? हैमलेट ने ठीक ही किया कि उसने नाटक के बीच नाटक की व्यवस्था कर अपनी धारणा की सत्यता को जाँचने की चेष्टा की।

पुनः, इन्दुमती के सामने नृपों की व्यक्तिगत व्यापार-सरणि की आपने जो व्याख्या की है, उसमें भी मुझे बहुत खींचातानी की गई-सी मालूम पड़ती है। स्नायविक तनाव की अवस्था में व्यक्ति के लिए इस तरह का व्यापार करना परम स्वाभाविक और साधारण है। उदाहरणार्थ, जब प्रत्याशीजन किसी साक्षात्कार-मण्डल के समक्ष उपस्थित होते हैं, उनके हाथ-पैरों में अनावश्यक प्रकम्पन होने लगता है। फ्रायड के विचारों का आयात चातुर्य-कौशल का परिचायक भले ही हो, पर मैं आश्वस्त नहीं।

मेरे विचार में यदि हम फ्रायड को भूल भी जायँ तो हम घाटे में नहीं रहेंगे।

भवदीय

ग० स० महाजनि

इस पत्र पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यदि हम विचार नहीं करते तो इस पुस्तक में विचार की जो पद्धति अपनाई गई है उसका आधार ही नष्ट हो जाता है। हम फ्रायड को भूल जायँ या याद रखें, मुख्य प्रश्न यह नहीं है। मनुष्य की स्मरण-शक्ति बहुत दुर्बल होती है, वह भूल जाता ही है। हम कालिदास की, तुलसी की या शैक्सपियर की याद करते हैं सही, पर यह

वुलाया था तो प्रेमचन्द को भी आमन्त्रित किया था। जब उनका उपन्यास तैयार हो गया तो मैंने दुःखी होकर पूछा था, "प्रेमचन्दजी, आपकी कहानी-कला के सौन्दर्य की वात ही क्या। लोग तो कहते हैं कि आप हिन्दी कथा-साहित्य के प्रथम प्रसाधन विशेषज्ञ (beauty expert) हैं पर एक वात, वुरा न मानें तो पूछूँ। आपके दिल में दर्द क्यों नहीं है ? आप अपराधी को क्षमा क्यों नहीं कर पाते ? कला के क्षेत्र में प्रवेश करते समय भी धार्मिकता तथा सात्त्विकता का त्रिपुण्ड, चन्दन, तिलक वगैरह को धो क्यों नहीं देते ?

अरे दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को,
वरना तायत के लिये कुछ कम न थे तरवोरियाँ।

उसी तरह मृणाल को देखकर मैं उसके सृष्टा से पूछना चाहता हूँ कि भाई हम सव आपके कृतज्ञ हैं कि आपने मृणाल का सृजन करके हमें ऐसी नारी का दर्शन कराया जिसमें मुट्ठी भर पसलियाँ ही हों पर उसमें हिमालय की शक्ति है "पर्वतादधिकस्तस्य प्रभावो विद्यते भुवि"। आपमें दर्द भी है, नहीं तो मृणाल में इतनी पीड़ा और वेदना कहाँ से आती पर आपमें मनोवैज्ञानिक दर्द क्यों नहीं। यदि थोड़ा और मनोवैज्ञानिक दर्द होता तो मृणाल ऐसी अनाथ न रहती और ऐसी दुर्गति उसकी नहीं होती। पर जो नहीं है, उसके लिये कहना ही क्या है।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि मृणाल का सारा जीवन एक अस्वीकृत वालक का स्वीकृति पाने के प्रयत्न का इतिहास है। ऐसा ही एक उदाहरण मुझे एक अंग्रेजी उपन्यास में मिला, जिसके उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। इस उपन्यास का नाम है—Night-wood और लेखिका है Miss Djuna Barnes। ये दोनों नाम अभी हिन्दी साहित्य में प्रायः अपरिचित से हैं, पर अंग्रेजी में इस उपन्यास का नाम आधुनिक उपन्यास साहित्य में वड़े सम्मान के साथ लिया जाता है, टेकनीक की दृष्टि से भी तथा वस्तु की दृष्टि से भी। Robin Vote इसकी नायिका है, कह लीजिये। इसके चार प्रेमी हैं—एक डॉक्टर भी है। इन चारों प्रेमियों के साथ वह कुछ समय तक रहती है, पर कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिलती है और एक दिन निशीथ-वेला में वह अपने पुराने प्रेमी के घर लौटकर आती है जहाँ कुत्ता उसे चीर कर रख देता है। वह कुत्ते से इस तरह लड़ती है, जिस तरह से कोई आदमी नहीं, कुत्ता-कुत्ते से लड़ता है। Robin Vote आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों के अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्रों में से है। उसे चरित या पात्र कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि चरित या पात्र कहने से अर्थ यह निकलता है कि उल्लिखित व्यक्ति में मानवता का

विकास हो चुका है। पर रोविन वोट पूर्णरूप से मानवता को नहीं पहुँच पाई है, वह मानव हो रही है, पर उस विकासावस्था तक उठ नहीं सकती। वह अपने प्रेमियों के पास जाती है, उनके पास जिस हद तक उसकी स्वीकृति मिलती है, वहीं तक उसका विकास होता है। इस उपन्यास तथा इसके पात्रों पर विचार करते Josph Frank ने कहा है "Robin, always seemed to be looking for someone to tell her that she was innocent……There are some people who must get permission to live and Robin finds no one to give her that permission. She will make an innocence for herself, a fearful sort of primitive innocence." To be conscious of one's innocence, of course implies a consciousness of moarl value which we have seen Robin does not possess. If Robin finds someone to tell her she was innocent, that would mean she had found someone who had raised her to the level of human—someone who had given her "permission to live as a human being, not merely to exist as an amorphus lamp of moral possibility. This situation is the nub of the nore—Robin's relation to the other characters centres around the question : Will any of them be able to give her a sense of identity—to raise her to the level of the human ?"

अर्थात् Felix (रोविन के एक प्रेमी का नाम) डॉक्टर से कहता है कि रोविन के व्यवहार से ऐसा लगता था कि वह सदा ऐसे व्यक्ति की खोज में रहती थी जो उसे यह कह सके कि वह (रोविन) निरीह है।……कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें जीने के लिये स्वीकृति मिलनी ही चाहिये। यदि रोबिन को स्वीकृति देने वाला व्यक्ति नहीं मिलेगा तब वह स्वयं अपने लिये निरीहता की सृष्टि करेगी, वह निरीहता आदिम किस्म की तथा भयंकर होगी। अपनी निरीहता के ज्ञान के लिये नैतिक मूल्यों का ज्ञान आवश्यक है और वह जानकारी जैसा हमने देखा है, रोविन को नहीं है। यदि रोविन को ऐसा व्यक्ति मिल जाता है जो उसे खुलकर निरीह कह सके तो इसका अर्थ यह है कि उसे वह व्यक्ति मिल गया जिसने उसे मानवीय स्तर तक उठा दिया है। जिसने उसे एक मानव की हैसियत से जीने की स्वीकृति दे दी और वह नैतिक संभावना की तरल कीचड़ भर नहीं है। यही परिस्थिति उपन्यास की केन्द्रीय धुरी है। रोविन से अन्य पात्रों का संबंध इसी केन्द्र के चारों ओर चक्कर काट रहा है। क्या कोई ऐसा है जो अपने सम्पर्क से उसमें अपने स्वरूप को पहचानने की शक्ति जाग्रित कर सके अर्थात् उसे मानवीय स्तर तक उठा सके ?"

प्रकारान्तर से त्यागपत्र की भी केन्द्रीय धुरी यही एक अनाथ शिशु की जीवन-स्वीकृति की खोज है। Christ insearch of a father अर्थात् क्राइस्ट पिताजी की खोज में थे, पर मृणाल माँ की खोज में थी जो उसे जीवना-श्वासन दे सके। मैं Night-wood तथा 'त्यागपत्र' की तुलना नहीं करता। 'नाइट-वुड' निश्चय ही बड़ा महत्वपूर्ण उपन्यास है, पर दोनों उपन्यासों में जो मनोवैज्ञानिक समस्या छेड़ी गई है उसमें अपूर्व साम्य है। रोविन अप-साधारण थी, sub-normal थी, मानव तक उसका विकास नहीं हुआ था। ऊँचा उठकर मानव बन जाने की अदम्य प्रेरणा उसमें थी जिसे लिये ही वह संसार से उठ गई। मृणाल अप-साधारण (abnormal) थी, उसमें बुद्धि का, सोचने का, 'अहं' का आवश्यकता से अधिक विकास हो गया था। उसमें झुकने की प्रेरणा थी। दो नारियों को वह प्रेम न मिला जो एक को उठा सके, दूसरे को झुका रखे। दोनों का अन्त दारुण हुआ।

कल्याणी जैनेन्द्रजी का चतुर्थ उपन्यास है। एकाधिक स्थानों पर मुझे यह कहने का अवसर प्राप्त हुआ है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में सम्पूर्णतावादी मनो-विज्ञान (Gestalt Psychology) की झलक मिलती है। इस मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार संसार के प्रत्येक वस्तुजात में सम्पूर्णता भाव की अवस्थिति होती है। पूर्णता ही वास्तविकता है। खण्ड भ्रम है। खण्ड का अस्तित्व ही सम्पूर्ण को लेकर है। व्यवस्था के भीतर अस्तित्व है। इस तरह के तीन .˙. विन्दुओं में स्थान की रिक्तता भले ही हो, पर इन तीनों विन्दुओं के अन्तराल को भरता हुआ एक सम्पूर्ण त्रिकोण स्पष्ट ही झलकता रहता है। इसी तरह जैनेन्द्र के उपन्यासों की कथा-शृंखला की कड़ियाँ टूटती-सी मालूम होती हों, कहीं कथा ठहरी मालूम होती हो, कहीं तेजी से, विद्युत् गति से चलती दीखि पड़े, पर किसी रहस्यमयी प्रक्रिया से अपनी रिक्तता को भरती भी चलती है। यदि यह कहने के लिये, मतलब जैनेन्द्र के उपन्यासों में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान देखने के लिये आधार मिलता है तो उसका श्रेय बहुत कुछ कल्याणी को है।

पाठकों का ध्यान मैं एक बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। वे जरा जैनेन्द्र के उपन्यासों में भाषा का तथा उनकी कथावस्तु का जिस तरह विकास होता गया है अर्थात् भाषा तथा कथा जिस रूप में अपने स्वरूप को प्रगट करने लगी है उस पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें। प्रारम्भ से ही जैनेन्द्र की भाषा में विचित्रता रही है। विचित्रता यही कि वाक्य छोटे-छोटे, भाषा ऐसी जो बोल-चाल की ही है, पर मानस की गहराई में चलने वाले मन्थन की प्रतीक है। यह प्रवृत्ति जैनेन्द्र में उत्तरोत्तर विकसित होती रही है।

कल्याणी में आकर वह उत्कर्ष पर है और ऐसा लगता है कि यदि यह प्रवृत्ति और अधिक विकसित हुई तो अभिव्यक्ति में गड़बड़ी उत्पन्न होगी।

मनोवैज्ञानिकों ने कुछ पागलों की कलाकृतियों का अध्ययन किया है। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें पागलपन का विकास धीरे-धीरे होता है। ऐसे पागल भी होते हैं जो चित्र बनाते देखे गये हैं। जिसके द्वारा उनकी अचेतन शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। अध्ययन के द्वारा लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उन्माद की प्राथमिक अवस्था में तो उनके चित्रों की सार्थकता का पता लग सकता है। एक स्वस्थ चित्रकार के चित्र में जिस तरह की व्यवस्था तथा सार्थकता रहती है वह बात तो उनके चित्रों में नहीं होती, कुछ अटपटापन तो होता हैं, सब रियलिस्ट चित्रों से मिलता-जुलता, पर फिर भी उनकी अर्थवत्ता का पता लगाया जा सकता है, पर ज्यों-ज्यों उनके मनोविकार में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उनके चित्रों में अस्पष्टता आती जाती है। अंत में वह अवस्था भी आ जाती है कि चित्रों में से अर्थ खोज निकालना असम्भव हो जाता है।

जैनेन्द्र में भी—चाहे उनकी भाषा हो, चाहे उनकी कथा—कुछ इसी तरह के विकास-चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। प्रतिभा को कुछ गम्भीर विचारकों ने भी मानसिक असाधारणता ही कहा है। कहा है कि यह भी एक तरह का मनोविकार ही है, चाहे एक विशिष्ठ प्रकार का ही सही। अतः जैनेन्द्र की प्रतिभा (मनोविकार) भी इसी तरह विकसित हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भाषा में भी विकास हुआ है पर वह अधिक नहीं, पर आगे चलकर कथा के बहुत अंश अनबूझ से हो गये हैं। परख की कथा की कड़ियाँ टूटी तो है, पर फिर भी उन्हें जोड़ने में कठिनाई नहीं होती। सुनीता में भी कथा-भाग बदस्तूर बरकरार है यद्यपि कहीं-कहीं कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनकी संगति बठाने में अधिक कठिनाई होती है। जैसे श्रीकान्त का उस भयानक रात्रि में हरिप्रसन्न तथा सुनीता की कार से दबते-दबते बचना। मैं जब उस प्रसंग को पढ़ता हूँ तो यही लगता है कि सुनीता की कल्पना ने ही अपनी अचेतन वृत्तियों को तृप्त करने के लिये यह भ्रम पैदा कर लिया था। वास्तव में वहां श्रीकान्त था ही नहीं यह सुनीता के उत्तेजित मस्तिष्क की कल्पना थी।

कल्याणी में, "हमारे घर के गुसलखाने में एक युवती की हत्या की गई है" वाला प्रसंग तो उपन्यास में किसी तरह संगत नहीं बैठता। यदि उसे कल्याणी की मानसिक अवस्था के आलोक में न देखा जाय। श्रीकान्त का सुनीता की मोटर से दबते-दबते बच जाना, बियावान जंगल में हरिप्रसन्न का लाल रोशनी देखकर रुक जाना, ये घटनायें घटना के रूप में हों तो कोई असंभाव्य बात नहीं

अर्थात् नीच लोग तो विघ्नों के भय से कार्य प्रारंभ ही नहीं करते, मध्यम वर्ग के लोग प्रारंभ तो करते हैं पर विघ्न-बाधायें आने पर हाथ रोक लेते हैं, पर उत्तम जन पद-पद पर विघ्नों का सामना करते हुए अपने कार्य को नहीं छोड़ते। प्रथम तीव्र न्यूरोसिस का शिकार है, दूसरे का रोग उतना तीव्र नहीं है, तीसरा पूर्ण स्वस्थ संतुलित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति है। कल्याणी दूसरी श्रेणी में प्रतिष्ठित की जाने वाली नारी है। कार्य तो बहुत प्रारंभ करती है, डिस्पेन्सरी खोलती है, जगन्नाथजी के मंदिर का ट्रस्ट बनाती है, भारती तपोधन की स्थापना करती है, सभा सोसाइटियों में जाती है, अभिनन्दनपत्र भी लेने की तैयारी करती है पर सब व्यर्थ है। कोई भी उपलब्धि नहीं, कोई सृजनात्मक कार्य नहीं।

एक बात पर भी पाठक ध्यान दें। कल्याणी गर्भवती भी है। उसे अपने जीवन की तो चिन्ता नहीं पर अपने गर्भस्थ शिशु की चिन्ता उसे बहुत है। उपन्यास का रचयिता जो उपन्यास का ही एक पात्र है उससे बड़ी वेदनामयी वाणी में वह कहती है कि इसी गर्भस्थ शिशु के कारण वह इस धिकृत जीवन से मुक्त नहीं हो पाती क्योंकि उसके अंत के साथ इसका भी अंत हो जायेगा। अर्थात् वह गर्भ धारण करती है, चाहती है कुछ उपयोगी कार्य करे, सृजन करे। उसकी बड़ी इच्छा है कि उसकी मृत्यु के बाद कोई उस शिशु के भरणपोषण का भार ले। पर उपन्यास के अंत में आते आते ऐसा लगता है कि वह कुछ ऐसा उपाय कर जाती है जिससे उस बालक का जन्म ही न हो। जैनेन्द्र सूचना देने में बड़े कृपण है और मैंने कहा ही है कि यह कृपणता बराबर बढ़ती गई है। पर कल्याणी एक जगह कहती है कि लीजिये उस बालक का जन्म ही नहीं होगा। मतलब यह कि कल्याणी उन व्यक्तियों में से है जिन्हें मनोवैज्ञानिकों ने सफलता भयाक्रांत (afraid of success) कहा है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी सफलता से डर लगता है, वे सफल होना ही नहीं चाहते, जब सफलता पैर चूमनेवाली होती है तो वे ऐसा काम कर बैठते हैं जिससे सब चौपट हो जाता है। यही कल्याणी थी। मुझे ऐसा लगता है जैनेन्द्र भी कल्याणी के बारे में ऐसी ही धारणा रखते थे। यही कारण है कि सरस्वती चुपके से आकर उनकी लेखनी को इधर घुमा गई। गिरा गई मति फेरी। सरस्वती सदा से ऐसा करती आई है। इसी के कारण राम वनवास, सीताहरण, लंकादहन, मरण-दशकधर इत्यादि कांड हुए। पहले लोग सरस्वती कहते थे। आज के मनोवैज्ञानिक उसे सरस्वती के बदले में अज्ञात चेतना, Id या librdo कहेंगे।

उपन्यासकार के हाथों घटनायें जो रूप धारण करती हैं, जिस तरह का उनका स्वरूप विधान होता है, जिस तरह उनका संगठन होता है उनका भी

मनोवैज्ञानिक महत्व होता है। कुछ लोग साहित्य तंत्र तथा स्वयंतंत्र दोनों को समानधर्मी मानते हैं। स्वयं के दो रूप होते हैं वाह्य रूप (manifest content) तथा गुप्त रूप (latent content)। Manifest content वह है जो स्वयं द्रष्टा देखता है, जिसे याद रखता है, उसे लोगों से कह सुन सकता है। उदाहरणार्थ एक बालिका ने यह स्वयं देखा, उसने एक बिल्ली को अपनी छाती से दवाया और वह मर गई। यह Manifest content हुआ। पर इसका अर्थ यह हुआ कि उस बालिका ने केट नामक अपनी बहन की हत्या की जिससे वह घृणा करती थी। यह latent content हुआ। अर्थात् latent content आधार है जिस पर manifest content आरोपित कर दिया जाता है, जिस तरह रज्ज पर सांप को आरोपित कर दिया जाता है। वास्तविक वस्तु रस्सी ही है। सांप तो भ्रम मात्र है। हम तो एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सांप के पीछे छिपे-रहने वाले रज्ज को ही देखना चाहते हैं। इसीलिये मानते हैं कि कल्याणी की गर्भधारण वाली बात के पीछे मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया सक्रिय है। यह उतनी सीधी सादी बात नहीं जितनी ऊपर से देखने में लगती है। यह गर्भधारण लक्षण (symptom) के तर्ज का है। जैनेन्द्र के दो ही उपन्यास ऐसे हैं जिनकी नायिकायें गर्भधारण करती हैं। त्यागपत्र की मृणाल तथा कल्याणी की कल्याणी। मैं ने अन्यत्र अपनी पुस्तक, 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' में युद्ध माताओं (war mothers) के मनोविज्ञान का उल्लेख किया है और बतलाया है कि जिस समय जीवन संकट में हो, कृतान्तदन्ताग्रवर्त्तीजीवितम् वाली स्थिति हो उस समय कुछ नारियों में गर्भधारण करने की उतावली होती है और वे झट से गर्भवती हो जाती हैं। कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति मृणाल और कल्याणी की भी है। यह तो सही ही है कि ये दोनों नारियाँ जो जीवन व्यतीत कर रही थीं वह मृत्यु से भी वदतर था। वही हालत थी "ज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः" जो जीवन है वही मरण है, जो मरण है वही विश्राम है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें गर्भधारण करने की कोई आवश्यकता न थी। उपन्यास के कलात्मक विकास की दृष्टि से भी कोई इसका खास महत्व नहीं है। यदि यह बात सही है कि कलावस्तु में कोई भी ऐसी रेखा नहीं होनी चाहिये जिसका सहयोग नहीं हो तो इस घटना का समर्थन यदि प्राप्त होगा तो मनोविज्ञान की ओर से। यदि मनोवैज्ञानिक आलोक न हो तो यह घटना संपूर्ण उपन्यास चित्र में अलग पड़ी, बेकार, तटस्थ रेखा सी ही दीख पड़ेगी।

त्यागपत्र तथा कल्याणी की कथावस्तु पर आप एक और दृष्टि से विचार करें। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि त्यागपत्र की मृणाल ही ने कल्याणी

के रूप में ही पुनर्जन्म ग्रहण किया है। मृणाल मर गई। जज साहब ने लाख अनुनय किया पर घर लौट कर नहीं गई। उसका घर लौट कर नहीं जाना यह कृत्य प्रतिक्रिया निर्माणात्मक था। वह वास्तव में घर को प्यार करती थी। पर वही प्यार घोर घृणा का रूप ले चुका था। घृणा ही ऊपर तैरता हो पर अंदर प्यार की धार बह रही थी। यही वासना लिये वह मर गई। अब इस नये जन्म में वह घर को नहीं भूलती। पति उसे हर तरह तंग करते हैं, जूतों से भरे बाजार पीटते हैं, स्त्रियों का मंडल उससे मिलकर पति से अपमान का बदला लेने के लिये भी कहता है, समाज के अन्य मान्य सदस्यों में भी डॉ० आतरती के इस अभद्रतापूर्ण दुर्व्यवहार पर आक्रोश के भाव हैं, पर फिर भी कल्याणी टस से मस नहीं होती। कहती है, "अगर मेरी गलती पर उन्होंने कुछ कह सुन लिया हो तो क्या यह याद रखने की बात है? आप क्यों नहीं सोचते कि मैं एक पराये घर में इतने दिन रही। और कोई होता तो स्त्री को ऐसे में जीने भी छोड़ता? उन्होंने तो बस थोड़ा कह सुन कर जाने दिया। आप इस बात को मन में से निकाल दीजिए। मैं कहती हूँ, जो भी हो, पति मुझे बहुत चाहते हैं।" क्या यह मृणाल का ही प्रतिक्रियात्मक (re-active) रूप नहीं है। मृणाल अत्यादर से बुलाने पर भी नहीं आती और यह कल्याणी है जो इतना दुतकारने पर भी नहीं जाती।

होता है। उससे ताजगी आती है। लेकिन ज्यादा होकर तो वह नुकसान ही देता है।"

यहाँ पर पति सच्चे मनोवैज्ञानिक डाक्टर की तरह बोल रहे हैं। सचमुच मनोवैज्ञानिकता का प्रश्न मिकदार का ही प्रश्न है। जब प्राचीन नीतिकारों ने कहा था, "अति दानाद्बलिः बद्धः......अति सर्वत्र वर्जयेत्" तो लोगों ने विश्वास नहीं किया था। वही बात अब मनोविज्ञान की शब्दावली में कही जा रही है।

मनोविज्ञानिकों में प्रवृत्तियों के ध्रुवीकरण (Polarity of motives) का सिद्धाँत बहुत प्रचलित है। उनके अनुसार मनुष्य में दो विपरीत प्रकार की प्रवृत्तियाँ सदा सक्रिय रहती हैं, जीवन-प्रवृत्ति (Eros) और मरण प्रवृत्ति (Thantos)। जन्म, जीवन यदि सत्य है तो मृत्यु उससे ज्यादा सत्य है। जीवन द्वारा खड़ी की गई दृढ़ सुरक्षा पंक्ति को तोड़ कर भी व्यक्ति अपने मृत्यु-लक्ष्य पर पहुँच कर ही रहता है। अतः मरण-प्रवृत्ति के अस्तित्व का अनुमान करना ही पड़ेगा। व्यक्ति मरता तो है एक बार ही। पर यह प्रवृत्ति अपने छद्मवेश में सदा प्रकट होती रहती है। आत्मपीड़न (Masochism) की प्रवृत्ति में स्वविनाश की झलक स्पष्ट ही है। पर-पीड़न (Sadism) प्रवृत्ति जिसमें मनुष्य दूसरे को पीड़ित करता है, नष्ट करने की चेष्टा करता है वह भी आत्म-पीड़न प्रवृत्ति का ही परिवर्तित रूप है। केवल मरण-प्रवृत्ति ने अपनी सुविधा के लिए अपने आलम्बन, आधार-वस्तु (Object) को बदल दिया है। पहले वह अपने को मारती थी अब दूसरे को मारती है। मरना मारना के रूप में बदल गया है। ठीक उसी तरह जिस तरह स्वरति (self-libido) पररति (Object libido) में परिवर्तित हो जाता है।

मेरे कहने का अर्थ यह है कि कल्याणी में यह मरण-प्रवृत्ति (Thantos) पूर्ण विकसित रूप में सक्रिय है। कल्याणी के मन में मृत्यु की छाया सदा वर्तमान रहती है। उसका जीवन ऐसा है जो मृत्यु के उपकंठ में ही निवास करता है। कल्याणी ही नहीं आज हिन्दी उपन्यासों का वृहद अंश इस मृत्यु के नीचे ही पल रहा है। शेखर को तो फाँसी होने ही वाली है, अपने-अपने अजनबी में तो मरण त्योहार की ही कथा है। जैनेन्द्र में यह प्रवृत्ति प्रारंभ से ही थी। बिहारी में जो आदर्शवाद है वह आत्महनन के ढंग का है। सुनीता में भी यह प्रवृत्ति है पर वह अप्रत्यक्ष है। श्रीकान्त अपनी वस्तु सुनीता को दूसरे अर्थात् हरिप्रसन्न के लिये उत्सर्ग कर देता है। यह प्रवृत्ति त्यागपत्र में आकर खूब विकसित हो जाती है। उपन्यास का नामकरण ही कम नेत्रोन्मीलक नहीं है।

जैसे किसी शिशु की घुट्टी में ही कोई चीज पड़ी होती है वैसे ही इस उपन्यास की घुट्टी में ही त्याग है, मरण है, वर्जन है, निषेध है। मृणाल जो कुछ करती है वह कभी भी आत्म-हनन से कम कहा जा सकता है भला! जज साहब में भी यह प्रवृत्ति कम नहीं है। वह बड़े नाजों और स्नेह से पाली हुई जजी को यों फेंक देते हैं जैसे दूध से मक्खी निकाल कर फेंक दी जाती है। मृणाल की भाभी मृणाल को बेतों से पीटती है। मृणाल के पति मृणाल जैसी सती साध्वी महिला-रत्न को घर से निकाल देते हैं। कोयला वाला अवश्य थोड़ी देर के लिए शरण देता है पर अंत में वह भी दगा दे जाता है। सर्वत्र ही मरण-प्रवृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ है।

फाँसी, मृत्यु तथा इसके समानधर्मी विषय (Theme) के आधार पर देश-विदेश के अनेक ख्यातनामा औपन्यासिकों ने महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की है। प्राचीन कथायें, विवाह या मृत्यु पर आकर समाप्त हो जाती थीं। पर आज स्थिति एकदम बदल गई है। अब अनेक उपन्यास मृत्यु के समीप अथवा मरणोत्तर अपना व्यापार प्रारम्भ करते हैं। एक बार मेरे मन में यह प्रश्न उठा था कि इस मरण-व्यापाराभिरुचि का क्या कारण है? उस समय मैंने अपने चित्त का यह कहकर समाधान किया था कि यह तो कुछ नहीं साहित्य-कारों की ओर से यह प्रयत्न हो रहा है कि मृत्यु के भय को हृदय से दूर कर दिया जाय। मनुष्य मृत्यु से डरता है, उससे दूर रहना चाहता है। पर मृत्यु तो अपने में कुछ नहीं, एक सामान्य घटना है। वास्तव में उसका डर ही सब अनर्थ की जड़ है। अतः उसके भय को निकालो। अब तक साहित्यकारों ने मृत्यु को 'अवस्तु' माना है। पर अब उस अवस्तु को भी 'कवि-भावक-भव्यमान' बनाकर रसभावोपेत बना दिया जाय। इतना कह लेने के बाद मेरे मन को थोड़ा संतोष हो गया था। पर आगे यह कहने की इच्छा हो रही है कि यह उत्तर सही हो सकता है। पर यह कहना अधिक सही होगा कि उपन्यासकार मृत्युधर्मी छाया के नीचे अपने उपन्यास का वितान छानकर पाठकों की एक आन्तरिक तथा अचेतन प्रवृत्ति को सन्तुष्ट कर रहा है जिसे मरण-प्रवृत्ति (Thantos) कहते हैं। यही कारण है कि इन उपन्यासों के प्रति पाठकों में इतनी अभिरुचि है। उनकी किसी गम्भीर अन्तर्वृत्ति की तृप्ति होती है।

जिस मरण-प्रवृत्ति का उल्लेख यहाँ विस्तार से किया जा रहा है उससे उपन्यास का लेखक अनभिज्ञ है सो बात नहीं। यह ज्ञान उसके अंतस् में है, शायद उसके Id के किसी कोने में दुबका पड़ा हो पर यह सही है कि कभी-कभी वह उसके मानस के चेतन स्तर पर भी आ जाता है। यदि दर्शनशास्त्र

उनकी याद नहीं है, अपनी याद है, हम उन्हें अपने रँग में रँग कर, उन्हें आधुनिक बनाकर, modernise कर याद करते हैं। हम जिस शैक्सपियर की याद करते हैं वह वही प्राचीन शैक्सपियर Stratford-on-Avon निवासी नहीं है, वह हमारे हृदय में बसने वाला व्यक्ति है। हम किसी को भूल जायँ, पर अपने को याद रखें, यही ठीक है—आत्मानं विद्धि !

अब आप मनुष्य के ज्ञान के स्वरूप पर विचार कीजिये। आपको घर का ज्ञान होता है। उस ज्ञान का स्वरूप होगा—'घटमहं जानामि' अथवा 'घटज्ञानवानहम्'। इसमें किसी को कोई आपत्ति ही क्या हो सकती है! पर, एक दूसरे प्रकार का ज्ञान भी होता है जिसका ज्ञान मनुष्य को नहीं होता। मनुष्य जानता है सही, पर हाँ, वह यह नहीं जानता कि वह जानता है। अतः सोचता है कि मैं नहीं जानता। प्राचीन काल में भी विचारक, चिन्तक तथा मनीषियों का ध्यान इस ओर गया तो था, पर जमा नहीं था। उदाहरणार्थ, हनुमान के अन्दर अपनी शक्ति का ज्ञान तो था, पर वे नहीं जानते थे कि उनके अंदर ही वह शक्ति वर्तमान है। वे भूल जाते थे अपने को। जब कोई उन्हें याद दिलाता था तो उनको ज्ञानोदय होता था और वे 'कनकभूधराकार शरीर' हो समुद्र लाँघ जाते थे। इसी बात को तो आज के मनोविश्लेषणवादी जरा खुले स्वर में कह रहे हैं तो वह नया-सा लगता है। वे कहते हैं कि मनुष्य के मन में कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिन्हें वह जानता है, पर यह नहीं जानता कि वह उन्हें जानता है। आधुनिक मनोविज्ञान की कुछ देन है तो यही है कि उसमें इस बात की ओर लोगों का ध्यान दृढ़तापूर्वक आकर्षित किया है। और लगता है कि सारी दुनिया ही बदल गई। न्यूटन ने पुरानीं ही बात को जरा स्पष्टतापूर्वक कहा था और परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक जगत् में क्रान्ति आ गई।

यही बात तो इस पुस्तक में भी कही गई है। हाँ, जरा खुल कर। जैनेन्द्र के अन्दर ही ज्ञान है कि वे अपनी कथाओं का निर्माण एक विशिष्ट ढँग से क्यों कर रहे हैं। सुनीता, कल्याणी, मृणाल, इला सब जानती है वे क्यों इस खास लहजे में बोलती हैं, वे घटनाओं (stimulus) के प्रति एक खास ढंग से प्रतिक्रिया क्यों करती हैं। क्यों अपने पति से अन्यमनस्क हैं? पात्र क्यों क्रान्तिकारी बन जाते हैं? श्रीकान्त क्यों कानपुर चला जाता है? इत्यादि बातें सब पात्रों को मालूम हैं। पर उन्हें नहीं मालूम कि उन्हें मालूम हैं। यदि मैं उन्हें अपने मनोविश्लेषण-आतुरालय (Psycho-analytic clinic) में बुलाने में सफल हो सका तो मैं जरूर उनसे अपनी बात मनवा सकूँगा। खेद है, कि मुझमें उपन्यासकार की प्रतिभा नहीं है। यदि ऐसी सृजनात्मक प्रतिभा होती तो मैं

की शब्दावली का सहारा लेते रहेंगे कि लेखक को इसका ज्ञान तो है पर वह निर्विकल्पक ज्ञान है; आलोचक को भी इसका ज्ञान है पर वह सविकल्पक है। वह कहता है, "मैं जानना चाहता हूँ कि कल्याणी आसरानी के स्वभाव में जो मृत्युतत्त्व का स्पष्ट खिंचाव नजर आता है, वह यदि प्रतिक्रिया है, तो किन घटनाओं की प्रतिक्रिया है। उनकी धर्म-भावना किस व्यवहारगत विषमता के कारण है। जानना चाहता हूँ, लेकिन जान नहीं पाता। देखता हूँ कि अपने व्यवसाय में वह सावधान है, कर्त्तव्य में तत्पर। कर्मस्खलन् कहीं नहीं है। फिर भी एक अशान्ति, एक दमन, एक विचिकित्सा जो उनमें दिखाई देती है, वह क्या है? और वह क्यों है?......मौत की खींच का नाम है मौत का भय। वह भय कल्याणी आसरानी पर प्रबलता से अपना प्रभाव क्यों डाले हुए है? यह इष्ट है कि अनिष्ट; प्रतिक्रियात्मक है या विकासात्मक......" मैं इधर दो शब्दों का प्रयोग करता आ रहा हूँ—मरण प्रवृत्ति (Thantos) तथा प्रतिक्रिया निर्माण (reaction formation) आप ध्यान से देखें। लेखक उन्हीं को मृत्यु-तत्त्व तथा प्रतिक्रियात्मक कहता है। जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन भले ही नहीं किया हो पर उनकी कथावस्तु में, वक्तव्यों में, पात्रों के व्यवहार में मनोवैज्ञानिक झलक तो है ही।

कल्याणी में एक क्रान्तिकारी पात्र आता है पाल। शायद परख और त्याग-पत्र को छोड़कर जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों, कुछ क्रान्तिकारी किस्म के पात्र आते हैं। सुनीता का हरिप्रसन्न, कल्याणी का पाल, सुखदा का लाल (वहाँ तो एक क्रान्तिकारी दल ही है), विवर्त में जितेन, जयवर्धन में इन्द्रमोहन। ये सभी बम और पिस्तौल की फिलासफी में विश्वास करने वाले हैं। पर इन क्रान्ति-कारियों में कल्याणी के पाल के बाद एक नई प्रवृत्ति उभरती मालूम पड़ने लगती है। सभी फरार होते हैं। सभी को पकड़ने के लिये सरकार सचेष्ट है और सभी पर कई हजार के इनाम हैं। जो इन्हें गिरफ्तार कराने में सहायक होगा उसे कई हजार का इनाम मिलेगा। यहाँ तक सभी कार्य स्वाभाविक गति से ही चल रहे हैं। कोई असाधारणता नहीं। पर यहाँ से सब क्रान्तिकारियों में एक विचित्र प्रवृत्ति पनपती दृष्टिगोचर होती दीख पड़ती है। प्रवृत्ति यह है, अब जितने क्रान्तिकारी पात्र आते हैं उनमें अपने को अपने मित्रों द्वारा पकड़वा देने की तथा अपने ऊपर लगाये इनाम के द्वारा मित्रों की अथवा जनता के सेवा-कार्य किये जाने देने की अदम्य प्रेरणा रहती है। वे आत्मसमर्पण तो नहीं करते पर अपने मित्रों से प्रार्थना करते हैं कि वे उसकी खबर सरकार को देकर उसे गिरफ्तार करा दें और इनाम के रुपये लेकर अपने हित में अथवा देश-हित में

लगायें। उदाहरणार्थ, पाल और वकील साहब—जिन वकील साहब की यह (कल्याणी उपन्यास) कहानी है—के बीच यह वार्तालाप सुनिये। पाल फरार है। एक हितैषी के यहाँ ठहरा है।

मैंने कहा—सावधान तो तुम हो ही ! पर तुम्हारे हितैषी को धन्यवाद देता हूँ। तुम पर तो कई हजार इनाम है न ?

"हाँ ! सोचा है कि ये कई हजार सरकार से क्यों पा लिये जाँय। शहीदों के परिवारों के काम आयेंगे।"

पाल की मनोवृत्ति स्पष्ट है। वह क्या चाहता है यह बिल्कुल साफ है। वह पकड़ा जाना चाहता है। वह क्यों ऐसा चाहता है यह कहीं भी लेखक ने स्पष्ट नहीं किया है। शहीदों के परिवारों के काम में आने वाली बात इतनी लचड़ है कि इसे (rationalisations) कहने की भी इच्छा नहीं होती। हम अपने बोध के ऊपरी व्यावहारिक स्तर से कुछ कारण निकाल भी ले सकते हैं। पर हम अपने को इसलिये भी खुला रखते हैं कि इसकी जड़ कहीं आन्तरिक लाचारी में न हो और उपन्यासकार की कथा कहीं प्रतीक की भाषा में न बोलती हो।

अब इसी प्रसंग में लगे हाथों सुखदा को भी देखें। इस उपन्यास में क्रांतिकारियों ने अधिक स्थान घेरा है। हरीश इस दल का नेता है। इस पर भी इनाम है। सुखदा के पति का उस दल से सक्रिय सम्बन्ध है और हरीश उस पर विश्वास भी करता है। पर हरीश के ही अनुरोध पर सरकार को खबर दी जाती है और हरीश पकड़ा जाता है और इनाम के रुपये सुखदा के पति को प्राप्त होते हैं। विवर्त में जितेन क्रान्तिकारी बन जाता है। ट्रेन को उलट देता है, डाका डालता है। इसके मूल में मुख्य कारण यह है कि मोहिनी के प्रेम में उसे निराशा होती है और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में वह इस तरह के दुस्साहसिक कार्य में लग जाता है। इस प्रतिक्रिया का भी एक मनोवैज्ञानिक पहलू है। पर फिलहाल हमारा ध्यान उस ओर नहीं है। जितेन ट्रेन उलटकर सीधे मोहिनी के पास आश्रय लेने के लिये आता है। उसे आश्रय मिल ही जाता है। आते कहता ही है, "मोहिनी, एक बहादुरी करो, मुखबिरी करके मुझे गिरफ्तार करा दो। मुझ पर इनाम भी है।"

मानसिक ग्रन्थि इस रूप में सामने आती है। यदि एक वार घटना ने यह रूप धारण किया होता तो उपन्यासकार की कल्पना का आविष्कार कह कर संतोष कर लिया जा सकता था। पर वार-वार इस तरह की घटना को वही कहेंगे जिसे मनोवैज्ञानिकों ने वाधित आवृत्ति कहा है (Compulsion repetition) मनुष्य चाहे या न चाहे वह इसकी वार-वार आवृत्ति के लिये लाचार है। एक मनोविज्ञान की पुस्तक में मैंने पढ़ा था, "A state falling from a roof and injuring a man's head is clearly of this nature, and a woman who finds that she has married a drunkard may be simply unlucky or careless; but if a physically healthy man of normal intelligence repeatedly becomes involved in road accidents or if the unlucky woman marries three alcoholics in succession we should certainly be entitled to consider the possibility that their personality rather than environment is to blame." अर्थात् "एक स्लेट का छत से गिरकर किसी के सर को आहत करना एक साधारण-सी घटना हो सकती है। यदि किसी नारी को वाद में पता चले कि उसने एक शरावी से विवाह कर लिया है तो यह कहा जा सकता है कि वह अभागिन है या असावधान, पर यदि यह पाया जाय कि एक साधारण स्वस्थ तथा प्रकृत प्रतिभा का व्यक्ति वार-वार सड़क की दुर्घटना का शिकार हो जाता है अथवा यदि कोई अभागिन नारी लगातार तीन विवाह करती है और वार-वार उसे शरावी पति ही मिलता है तो हमें यह मानने का अधिकार है कि इसका दोष वाहरी परिस्थितियों पर उतनी नहीं जितनी उसके व्यक्तित्व पर है।"

ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि एक वार यदि कोई क्रान्तिकारी अपने पकड़े जाने की चाहना करे तो इसे लेखक की साधारण कल्पना कहकर टाला नहीं जा सकता। पर इस तरह की वार-वार पुनरावृत्ति लेखक के मनोविज्ञान की गहराई में झाँकने को प्रवृत्त करती है।

कल्याणी के वाद जैनेन्द्र की प्रतिभा ने करीव-करीव १० वर्षों के लिये विश्राम लिया था और इस वीच लोगों को आशंका होने लगी थी कि कदाचित उनकी प्रतिभा के चमत्कार पुनः देखने को नहीं मिलेंगे। मुझे याद है कि जैनेन्द्र ने स्वयं एक लेख में 'जैनेन्द्र की मौत पर' भी लिखा था। पर १९५० के आसपास अर्थात् १० वर्षों के अन्तराल के पश्चात् पुनः उनके उपन्यासों के प्रणयन का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ और एक पर एक सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन तथा मुक्तिवोध नामक उपन्यास सामने आये। एक और उपन्यास 'अनन्तर' जो दिल्ली रेडियो से प्रसारित हुआ, अभी प्रकाश में आया है।

उसके बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि रेडियो की सीमाओं के प्रभाव के चिह्न तो उसमें रहेंगे ही। वह आकार में लघु होगा और मुक्तिबोध की तरह की कोई चीज होगी। मेरी यह भी कल्पना है कि भविष्य के उपन्यासों में जैनेन्द्र के वैयक्तिक जीवन की घटनायें उनके उपन्यासों में अधिकाधिक स्थान पाती जायेंगी। मुक्तिबोध में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे हैं। यों तो उपन्यासकार अपनी रचनाओं में अपनी ही कथा कहता ही है पर उसका व्यक्तित्व वहाँ पर कुछ कदम दूर पर ही रहता है और उसे देखने में जरा जोर पड़ता है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसके व्यक्तित्व को कथा के आस-पास भी मंडराते देखा जा सकता है। वही बात मुक्तिबोध में है।

सृजक की प्रतिभा कुछ समय के लिये प्रसुप्त-सी क्यों हो जाती है और पुनः जागरित होती है इसकी भी व्याख्या मनोवैज्ञानिकों ने अपने ढंग से दी है और शैशवावस्था में उस पर पड़े हुए विविध संस्कारों के आलोक में उसे समझने-समझाने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र के जीवन में, विशेषतः शैशवावस्था का विस्तृत इतिहास प्राप्त नहीं। अतः इस पहलू का विवेचन अभी सम्भव नहीं। हम उनके उपन्यासों का ही विवेचन कर रहे हैं और कल्याणी के बाद मण्डूक-प्रणति? न्याय से कूदकर एक छलाँग में जयवर्धन पर ही आ जाते हैं। कारण?

मेरी दृष्टि में जैनेन्द्र की औपन्यासिक कृतियों में जयवर्धन का विशिष्ट स्थान है। कहना तो यह भी चाहता था कि उनकी कृतियों में वह सर्वश्रेष्ठ है; परिमाण की दृष्टि से भी तथा गुण की दृष्टि से भी। परिमाण की दृष्टि तो स्पष्ट ही है। जैनेन्द्र के सारे उपन्यास लघ्वाकार हैं, छोटे छोटे हैं, पर जयवर्धन के आकार में वृद्धि है। उसे छोटा उपन्यास नहीं कह सकते। उसमें चिन्तन की मात्रा भी अधिक है। यहाँ तक कि कुछ लोग तो उसे दर्शन अथवा दार्शनिक उक्तियों का ही ग्रन्थ कहना अधिक पसन्द करते हैं, उपन्यास की श्रेणी में रखते ही नहीं। सुखदा, विवर्त तथा व्यतीत ये तीनों उपन्यास छोटे हैं। कथायें अवश्य भिन्न-भिन्न भी हैं; पर मनोवैज्ञानिक कोई विशेष प्रवृत्ति उसमें उभरती-सी हो यह बात विशेष रूप से नहीं दीख पड़ती। ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता कि पूर्व के उपन्यास का कोई पात्र आगे के इन उपन्यासों में विकसित रूप में सामने आता हो। मृणाल को कल्याणी के रूप में देख लेना कठिन नहीं है। पर सुखदा, विवर्त अथवा व्यतीत में कल्याणी के पात्रों की कोई विशिष्ट झलक नहीं मिलती।

पर आप जरा ध्यान से देखें जयवर्धन उपन्यास को। आप देखेंगे कि कल्याणी की कल्याणी ही आगे बढ़कर इला के रूप में तथा प्रीमियर ही विक-

सित होकर जयवर्धन के रूप में परिणत हो गये हैं। कल्याणी में भारती तपोवन के उद्घाटन से प्रिमियर का आगमन हुआ है। देखिये वकील साहब जिनकी डायरी यह उपन्यास है उसके बारे में क्या कहते हैं:

"मुझे विस्मय हुआ कि राजनीति में ऐसे अहं से रिक्त आदमी को कैसे स्थान मिल सका? झुलसाती आग का तो वहाँ चिह्न भी नहीं है। जैसे आग आई हो तो आकर फूस तिनके को जलाती हुई ऊपर से निकल गई हो। अब मानो भीतर जलने-लायक कुछ रहा ही न हो। ऐसा आदमी जिस राजनीति को मिल सका और लौकिक स्पर्द्धा के कठिन धरातल को फोड़कर ऊपर भी आ सका, वह राजनीति, मालूम होता है, सत्ता से भिन्न नीति की राजनीति भी है। नहीं तो यह व्यक्ति मनो सत्ता का आकांक्षी नहीं है, बल्कि उससे बचने का ही आकांक्षी है। वह दूसरों की आँखों में आना नहीं चाहता है। अखबार की मुखर ख्याति नहीं, वह तो एकान्त के सहजवास की मूकता ही चाहता है।"

क्या इन पंक्तियों के पढ़ने के बाद भी आपके कहने का जी नहीं चाहता कि कल्याणी के प्रिमियर में ही जयवर्धन के निर्माण का बीजवपन हो गया था? भरत ने नाट्यशास्त्र में भावों पर विचार करते कहा है:

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षों वृक्षात् पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

उसी तरह कल्याणी से उद्धृत इन पंक्तियों को मैं बीजस्थानीय मानूँगा और तत्पश्चात् प्रकाशित जयवर्धन को फल-स्थानीय या वृक्ष-स्थानीय मान लूँगा। यही कारण है कि कल्याणी के बाद सीधे जयवर्धन पर आ जाने की जल्दी है। हालाँकि जल्दबाजी मनोवैज्ञानिक को शोभा नहीं देती।

जयवर्धन पूर्ण (perfect) मनोवैज्ञानिक उपन्यास है; यह कहते हुए थोड़ा डर लगता है क्योंकि पूर्णता मनुष्य में अथवा उसके कृतित्व में है ही नहीं। जैनेन्द्र कहेंगे कि पूर्ण तो एक भगवान ही है। तो यहाँ पर ही पूर्णता कैसे आये। पर मैंने, मनोविज्ञान के सहारे, मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिये जो कसौटियाँ बनाई हैं उनमें से अधिकांश को जयवर्धन पर्याप्त सन्तोष प्रदान करता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनेक लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है कि इसमें वार्तालाप, कथोपकथन की छटा अत्यधिक विकसित होगी। यदि हम उपन्यास के विकास का इतिहास देखें तो स्पष्ट होगा कि उसकी प्रवृत्ति आंतरिक प्रमाण की ओर ही गतिशील रही है और इस प्रगति के लिये कथोपकथन के द्वारा उसके मार्ग को प्रशस्त होने में अधिक सहायता मिलती है। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में ९५ प्रतिशत घटनात्मकता है और ५ प्रतिशत के अन्दर ही कथोपकथन तथा

मनोविज्ञान सभी कुछ आ जाता है। पर प्रेमचन्द में यह अनुपात ५०-५० प्रतिशत का हो जाता है। जैनेन्द्र में प्रारंभ से ही वार्तालाप का प्राधान्य रहा है। ८० प्रतिशत वार्तालाप को स्थान मिला है। जयवर्धन तो वार्तालाप के सिवा और कुछ है ही नहीं। वह डायरी है। मतलव स्व वार्तालाप है। उस वार्तालाप में भी कथोपकथन के अंश ही प्रधान हैं। टिप्पणियाँ या वर्णन जो हैं वे नाम-मात्र को हैं नाटकों में स्टेज डाइरेक्शन की तरह। उनका कार्य कड़ियों को जोड़े भर रहना है और कुछ नहीं। अतः केवल परिमाण की दृष्टि से भी इस उपन्यास में मनोविज्ञान की स्थिति अधिक दृढ़ कही जा सकती है।

मैं पूरे जयवर्धन को किसी व्यक्ति को मुक्त आसंग विचार प्रवाह (free association thinking) के रूप में देखता हूँ। व्यक्ति डायरी में बिना किसी प्रतिवन्ध के अपने विचारों को प्रगट के लिये स्वतन्त्र है, उसे सिवा मनोविश्लेक डाक्टर के देखने और सुनने वाला कोई नहीं। वह स्वच्छन्दता से प्रस्ताव जो मन आये कर सकता है। अव मनोविश्लेषक उस अजस्र विशाल विचार-प्रवाह प्रपात में उपलब्ध एक-एक विचार-खण्ड, एक-एक वाक्य, वाक्य-खण्ड या शब्द के सहारे छिपी, दमित ग्रन्थियों का पता लगा सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक घटना या विचार अथवा वाक्य का विश्लेषण या निर्वाचन किया ही जाय। यह सम्भव नहीं होता। स्वप्नों के वाह्य रूप (manifest content) के निर्वचन में भी वहुत से अंश ऐसे होते हैं जिनकी तह तक (latent content) तक निर्वचन के द्वारा पहुँचना सभाव्य नहीं होता। तव जितने अंश का निर्वचन हो सकता है उतने से ही काम चलाया जाता है। अतः जयवर्धन के रूप में जो मुक्त आसंग विचार-प्रवाह उपलब्ध है उसके कुछ वहुत थोड़े से ही अंशों पर ही हम विचार कर सकेंगे।

इन पंक्तियों को पढ़िये। इला और विलवर में वात हो रही है। प्रसंग छिड़ गया है विवाह का। प्रसंग छिड़ गया कि आखिरकार परिवर्त्तित एवं अनुकूल परिस्थितियों में विवाह सम्पन्न हो जाने में क्या वाधा थी। इला एक सच्चे मनोवैज्ञानिक की भाषा में वोलती है, "तो आप विवाह से डिगेंगे नहीं। लेकिन क्या आप मानेंगे कि ठीक इसी कारण विवाह उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वह अपना पक्ष प्रवल नहीं, निर्वल चाहते थे। मेरे अविवाहित पर फिर भी जय के साथ, रहने से लोकमानस में मेरे पिता का पक्ष ही प्रवल होता था और वह ही जय को प्रिय था। लेकिन पिता उस प्रवलता का लाभ लेने से ही विमुख थे। आप इसको कैसे समझेंगे, मैं जानती नहीं। लेकिन सच ही मैं आपसे कह रही हूँ"। वहीं पर आगे चलकर कुछ और पंक्तियाँ हैं। "लेकिन मैं जय को कैसे छोड़

सकती हूँ। पिता जेल में हैं, इसलिये निश्चिन्त सुख से हैं। जय प्रतिपल राज पर है इस कारण सूली पर हैं। उनको अकेला छोड़ूँ तो कैसे ? और मेरे रोके वे यहाँ हैं नहीं तो जाने कहाँ होते। जय की मुझसे तो यही लड़ाई है कि कहते हैं जाओ पिता की सेवा करो। पर वह सेवा अनावश्यक है, और जय से कैसे कहूँ कि सेवा स्वयं उनकी आवश्यक है। कारण त्रस्त अधिक वह है, रुग्ण भी अधिक वह है।"

जब मैं इन पंक्तियों को पढ़ता हूँ तो एक घटना की याद हो आती है। रवीन्द्र-शताब्दी मनायी जा रही थी। मुझे रवीन्द्र के कथा-साहित्य पर कुछ कहना पड़ा। मेरे मुँह से निकल गया कि रवीन्द्र मनोवैज्ञानिक कथाकार नहीं थे। बस क्या था, अब अपने 'छोटे मुँह की बड़ी बात' के लिए सफाई दो। कैसे नहीं थे मनोवैज्ञानिक कथाकार ? मैंने एक कौशल से काम लिया। मैंने सब प्रसिद्ध दिवंगत कथाकारों को बुलाया। जीन आस्टिन, ट्रालाप, बालजक, रवीन्द्र, प्रेमचन्द, दास्तोव्स्की को। दास्तोव्स्की को मनोवैज्ञानिक कथाकार माना। सबों को एक विषय दे दिया कि वे इस पर अपने उपन्यास की रचना करें। उनके उपन्यासों में और दास्तोव्स्की के उपन्यासों में जो अन्तर हो, उसी से वे उपन्यासस्थ मनोवैज्ञानिकता की परख कर लें। विषय था एक व्यक्ति ने अपने मित्र के ड्रावर (Drawar) में से पाँच रुपया चुरा लिए। सब ने अपने-अपने उपन्यास लिखे। मुझे उन सबसे मतलब यहाँ नहीं है। देखें कि दास्तोव्स्की के हाथों पकड़कर इस विषय ने कौन-सा रूप लिया और जैनेन्द्र में उनके साथ किसी तरह का समान धर्मित्व है।

दास्तोव्स्की का उपन्यास, और कथाकारों के उपन्यासों से कदाचित् आकार में भी बड़ा था। कदाचित् इसलिए कह रहा हूँ कि कितने वर्षों की बात हुई। स्मृति धुँधली पड़ गई है। दास्तोव्स्की की कथा ने निम्नलिखित रूप धारण किया। चोर अपनी प्रेमिका को डिनर देना चाहता था। रुपये तो उसके पास भी थे। पर वह प्रेम ही क्या जिसमें कुछ खतरा न हो। अतः करो चोरी, कुछ खतरा तो उठाओ। चोरी भी मित्र के यहाँ ही हो। इसमें दो लाभ हैं। आखिरकार मित्र का पैसा तो अपना ही है। दूसरी बात यह कि मेरा मित्र बड़ा लापरवाह है। वह अपने रुपये-पैसों की सार-सँभाल नहीं करता। यों ही असुरक्षित छोड़ देता है। उसे शिक्षा भी मिल जायेगी।

इधर चोर के मित्र के मानस में भी कम जटिलता न थी। वह जानता था कि किसने रुपये चुराये। चोर पश्चाताप की आग में जल रहा था। चाहता था कि वह अपने मित्र के सामने अपने दुष्कृत्य को स्वीकार करले और मन के बोझ

से मुक्ति पा ले। पर मित्र क्रूर था, उसमें पर-पीड़न की प्रवृत्ति (sadist impulse) थी। वह यह होने नहीं देना चाहता था। वह चाहता था कि चोर उसका मित्र है तो क्या ! सदा अंगारों पर सुलगता रहे, यही अच्छा। वह अपने मित्र से प्रेम भी करता था और साथ ही घृणा भी। उसमें द्विमुखी प्रवृत्ति थी जिसे मनोवैज्ञानिक ambivalent प्रवृत्ति कहते हैं। अतः जब कभी ऐसा प्रसंग छिड़ जाता है कि चोरी की स्वीकृति होने वाली है तब वह बड़े कौशल से उसे टाल देता था और बात वहीं रुक जाती थी। आखिर चोर बेचारा अपनी प्रेमिका को डिनर देने की बात कह देता है और यह भी कहना नहीं भूलता कि उसमें पाँच रुपये का व्यय हुआ है, होटल का बिल भी दिखला देता है ताकि किसी तरह बात आगे बढ़े और उसे सारे प्रकरण को खोल कर कहने का अवसर मिले। साधारण व्यक्ति होता तो इन बातों को सुनते ही साधारण हो जाता और चोर के मुख से ही सारी चोरी की बात स्वीकृत करा लेता। पर मित्र तो मनोवैज्ञानिक अज्ञात प्रवृत्तियों का शिकार था। वह एक व्यक्ति की कहानी कहने लगता है जिसने पाँच रुपये की चोरी की थी और बाद में जाकर आत्महत्या कर ली। चोर चारों तरफ से हताश हो गया। उसे कहीं भी मुक्ति का मार्ग नहीं दीख रहा। अन्त में वह मित्र का गला घोंटने पर सन्नद्ध हो जाता है ताकि वह पकड़ा जाय, दंड पाये और उसकी रूह को कुछ राहत मिले। पर मित्र यह सब नहीं होने देता। अपने को दोषी बना कर भी वह चोर को कानून के पंजों से बचाता है। कहानी के अंत में आते-आते यह परिस्थिति हो जाती है कि पता नहीं चलता कि कौन अधिक अपराधी एवं दण्डनीय है। वे एक-दूसरे को प्यार करते हैं या घृणा करते हैं। यहाँ तक कि वे दो प्रेमियों की तरह परस्पर आत्म-हत्या अनुबन्ध (mutual suicide pact) भी कर लेते हैं।

मैंने उस अवसर पर जानबूझ कर जैनेन्द्र को नहीं बुलाया था। एक कारण यह था कि यदि मैंने जैनेन्द्र को आमंत्रित किया होता तो अन्य आधुनिक उपन्यासकारों को कैसे छोड़ देता ? बुलाता भी तो मार्ग व्यय कहाँ से लाता ? सुना है कि आधुनिक साहित्यकार प्रथम श्रेणी से कम में यात्रा नहीं करते। दूसरी बात यह कि एक बार जैनेन्द्र और रवीन्द्र को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में विवादास्पद प्रसंग भी छिड़ गया था। रवीन्द्र के 'घर और बाहर' का साक्षात् प्रभाव 'सुनीता' में ढूंढ़ा जाने लगा था। कुछ लोग जैनेन्द्र में रवीन्द्र और शरत् दोनों की सम्मिलित प्रतिभा का दर्शन करने लगे थे। इसलिए रवीन्द्र और जैनेन्द्र दोनों को आमने-सामने लाकर प्रसंग में कटुता लाने से बचना चाहता भी था। पर इस समय तो जैनेन्द्र का बहिष्कार करना असंभव है। और सामने

दोनों के पारस्परिक आदान-प्रदान कायम रखने वाली सेतु टूट गया है और यदि टूट नहीं गया है तो कमजोर अवश्य हो गया है। इन पात्रों के कार्यकलापों में तो व्यावहारिक जगत् का आनुकूल्य है, उस पर ego का नियंत्रण है पर उनकी आन्तरिक प्रेरणा होती है। आन्तरिक अचेतन मानस की Id की। अतः उनके व्यवहार विचित्र प्रहेलिका की तरह के लगते हैं। दूसरे शब्दों में, वे एक तरह के मनोरोग के शिकार हैं जिसे स्किजोफ्रेनिया (Schizophrenia) कहते हैं। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति के विचारों और क्रियाओं में साम्य नहीं होता। साधारणतः सब कोई अपने पक्ष को प्रबल करना चाहता है। और यह सही है कि यदि जय ने इला से विवाह कर लिया होता तो उनका पक्ष ही प्रबल होता। पर वे ऐसा नहीं करते। "मेरे अविवाहित, फिर भी जय के साथ, रहने से मेरे पिता का पक्ष ही प्रबल होता था और वही जय को प्रिय था।" अर्थात्, जय एक ओर आचार्य को जेल में रखकर अपने पक्ष को प्रबल भी करना चाहते हैं। दूसरी ओर वे ऐसा ही काम करते हैं जिससे आचार्य का पक्ष प्रबल हो और उनका पक्ष निर्बल हो। मुझे ऐसा लगता है कि जय के जितने कार्य होते हैं उनमें कुछ ऐसी विसंगति है जो उनके खंडित व्यक्तित्व की सूचना देती है। वे लिजा को विदेश में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना चाहते हैं। यह हर दृष्टि से गलत कदम था। यह खतरे से पूर्ण था। अब तक तो अन्य राष्ट्रों में उनकी धाक थी, भले ही अपने देश में वे उतने लोकप्रिय न हों। पर अब वे उस पर भी हड़ताल फेरने की तैयारी कर रहे थे।

आचार्य हैं कि जानते हैं कि उन्हें जेल में रोक सकने वाला कोई नहीं है, पर वे बाहर नहीं होना चाहते। वे कहते हैं "जहाँ वह मुझे देखना चाहता है वह जगह शायद यही है, तो ऐसा ही हो। सुनो, विलबर, वह विघ्न नहीं चाहता, मार्ग निष्कंटक चाहता है, मैं उससे पहले, उससे अधिक चाहता हूँ कि विघ्न न बनूँ, काँटा न बनूँ। इससे सचमुच यहाँ प्रसन्न हूँ। बाहर जाने पर मेरी आवाज को कौन रोकेगा? अभी तो इन दीवारों को मोटापा देने वाला राज का नियम रोकता है, और मैं इसलिए रुक जाता हूँ कि मेरी लड़ाई दीवार से नहीं है, हृदय से है। जो दीवार डालकर पीछे हटता है उस हृदय तक बात जब भी पहुँचे, मुझे धीरज है। काल अनन्त है, यहाँ जल्दी क्या है। लेकिन बाहर जाकर आवाज न खुलेगी या उसके कारण कोई संकट नहीं आयेगा, यह आश्वासन चाह कर भी मैं बेचारे जयवर्धन को नहीं दे सकता।......"

दोनों ही दोनों के विरोधी हैं पर साथ ही दोनों-दोनों के समर्थक हैं। 'मार्ग में कोई भी किसी की बाधा नहीं होना चाहता। इसे ही तो 'स्किजोफ्रेनिया'

जैनेन्द्र के उपन्यासों
का
मनोवैज्ञानिक अध्ययन

अवश्य उन्हें अपने क्लिनिक में बुलाता और मेरी मनोवैज्ञानिक बच्कों (Psycho-analytic sittings) का परिणाम होता एक नया उपन्यास। मैं प्रतिभा-सम्पन्न उपन्यासकारों का ध्यान इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर आकर्षित करता हूँ। मेरी अपील तो जैनेन्द्र से भी है। पर डर है, वे मेरी बात नहीं मानेंगे।

अन्त में दो शब्द वत्स प्रदीप को। शाबाश! बधाई!! तुमने आखिर मुझसे पुस्तक लिखा ही ली। मैं तो समझ बैठा था कि कोई पुस्तक अन्तर्प्रेरणा से ही लिखी जाती है। यह भ्रम दूर हुआ। अब समझ में आया कि बाह्य प्रेरणा भी कोई मामूली चीज नही है। नहीं तो जैनेन्द्र-जैसे अकर्मण्य की फिलासफी में विश्वास करने वाला उपन्यासकार वैसा ही अकर्मण्य उनका आलोचक। दोऊ बानर बने। तब कहाँ किसी का उद्धार हो पुस्तक की रचना कैसे संभव हो? पर बाल-हठ जो न करा ले। बस, इतना कह कर पुस्तक पाठकों के हाथ में है।

उल्लेख-लीला घटनापटूनां
सचेतसां वैकटिकोपमानाम्।
विचारशाणोत्पल-पट्टिकासु
मत्सूलिरत्नान्यतिथिर्भवन्तु

उदयपुर:

देवराज उपाध्याय

कहते हैं। स्किजोफ्रेनिया मनोविज्ञान का शब्द है पर अब यह आलोचना के क्षेत्र में भी प्रवेश करने लगा है। इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है। एक अनुशासन-क्षेत्र का दूसरे अनुशासन-क्षेत्र से सदा आदान-प्रदान चलता ही रहता है। दर्शनशास्त्र, रासायनिकी, भौतिकी, इतिहास, अर्थशास्त्र ने न जाने कितने शब्द साहित्यालोचन को दिये हैं। अतः मनोविज्ञान के क्षेत्र से कुछ शब्द आलोचना की सीमा में आयें और मर्यादा का पालन करें तो उन्हें नागरिकता के अधिकार प्रदान करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

और आलोचना के क्षेत्र में मनोविज्ञान के शब्दों का आगमन तथा उनका नागरिकीकरण प्रारंभ हो भी गया है। उदाहरणार्थ Lee T. Lemon की पुस्तक The Partial Critic हमारे सामने है। उसके प्रथम पृष्ठ पर ही आधुनिक आलोचकों पर विचार करते हुए वे कहते हैं: On the one hand, modern critics recognise that the work of art is a unique creation and that beauty is something unto itself which violates rules even as it transcends them. On the other, they want to accept both the professional and the social responsibilities that force the critic to push explanation and evaluation to the utmost limits; and they have very strongly suspected that, because fine poems share something with each other, a general literary theory is possible. The result is a kind of critical schizophrenia, a radical separation of theory and practice, of professional and personal response. अर्थात् "आधुनिक आलोचक, एक ओर यह तो समझता है कि कोई कलाकृति अनन्य, अद्वितीय है और कि सौंदर्य स्वयं रूप है, वह नियमों को लाँघता हुआ उन्हें पार कर जाता है। दूसरी ओर, वे अपने व्यावसायिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व दोनों के प्रति जागरूक हैं जिसके कारण उन्हें व्याख्या तथा मूल्यांकन का भी अधिकाधिक ध्यान रखना पड़ता है। उन्हें ऐसा महसूस करने का प्रबल अवसर मिला है कि, चूंकि सब अच्छी कविताओं में एक तरह का समानधर्मित्व वर्तमान रहता है अतः, एक साधारण साहित्यिक सिद्धान्त का अस्तित्व सम्भाव्य है। इसका परिणाम है एक तरह की आलोचनात्मक द्विविधा (Schizophrenia), जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार तथा व्यावसायिक और वैयक्तिक प्रतिक्रिया में मौलिक पार्थक्य हो जाता है।" वहीं पर उन्होंने विलियम इम्पसन द्वारा की गई वर्डस्वर्थ की एक कविता Tintern Abbey की आलोचना का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने इस कविता की व्याकरण-संबंधी भूलों एवं विचार संबंधी अस्पष्टता की निन्दा की है। साथ ही उसकी प्रशस्ति

भी गायी है। मतलब कि उन्होंने अपने व्यावसायिक व्यापार तथा वैयक्तिक प्रतिक्रिया, दोनों को एक में न मिलाकर पृथक्-पृथक् रखा है। एक ओर वे उस कविता की निन्दा करते हैं और दूसरी ओर वे उसकी प्रशंसा भी करते हैं। यही बात तो यहाँ भी कही जा रही है कि जयवर्धन के सभी पात्र इसी द्विविधता (स्किजोफ्रेनिया) से ग्रस्त हैं। उनमें "यादे बुता भी दिल में है, खौफे खुदा भी है" वाली परिस्थिति है। मैं तो आगे बढ़कर यह भी कहने का साहस कर सकता हूँ कि यह परिस्थिति केवल पात्रों की ही नहीं, पात्रों के जनक उपन्यासकार की भी हो सकती है। उन्हीं से पात्रों ने इसे उत्तराधिकार के रूप में पाया है।

इन्द्रमोहन और जयवर्धन, लिजा और नाथ, चिदानन्द और जयवर्धन, यहाँ तक कि विलसन तथा जयवर्धन में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। पर जैनेन्द्र ने मनोविज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन नहीं किया है और न उनके उपन्यासकार के लिए यह अनिवार्य शर्त ही है। उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि मनोविज्ञान ने उनकी कल्पना को जगा दिया है। यथार्थवाद की प्रशस्ति कितनी ही गायी जाय, पर साहित्य में सारी बातें काल्पनिक होती हैं। अतः मनोविज्ञान भी कथा में काल्पनिक के सिवा और कुछ हो ही कैसे सकता है? काल्पनिक मनोविज्ञान ही तो उपन्यास की आधारभूत सामग्री है। यह काल्पनिक मनोविज्ञान क्या है? लोगों की धारणा है कि मानसिक जगत की घटनाएँ भी, प्रायोगिक भौतिकी की घटनाओं की तरह, दृढ़ नियम-विशेषों का अनुवर्त्तन करती हैं। यदि ऐसी बात है तो उपन्यासकार का कार्य, चाहे वह मनोवैज्ञानिक ढंग का हो या अन्य प्रकार का, बड़ा सहज है। जीवन की कुछ घटनाओं को देखा, कुछ मनोविकृत लोगों के व्यवहार को देखा, उन्हें लिपिबद्ध कर दिया और उपन्यास तैयार! जिस तरह गणित का विद्यार्थी अपनी कल्पना के आधार पर चित्र-विचित्र ज्यामितिक आकृतियाँ बनाता है और उनसे उलझता है, उतना भी अधिकार उपन्यासकार को नहीं रह जाता। पर इतनी स्वतन्त्रता तो प्रत्येक स्रष्टा को देनी ही होगी। इसके अभाव में तो उपन्यास क्या, किसी तरह की शक्ति के साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता।

सम्भव है कि जयवर्धन, इला, लिजा, आदि-आदि लोगों के नमूने वास्तविक जीवन में देखने को न मिलें, इनकी मानस-प्रकिया भी हमारे लिए विचित्र सी लगे; परन्तु उनके क्रियाकलाप, विचारों एवं व्यवहार-पद्धतियों में एक आंतरिक संगति है जिसे हम नज़र-अन्दाज़ नहीं कर सकते। यह पात्र कहीं-कही नीरस भी हो जा सकते हैं, पर इनका मानस-तन्त्र इतने ही संगत रूप में काम

करता है जितना उस गणितज्ञ की प्रमाणपद्धति, जिसमें किन्हीं काल्पनिक आयामों का आधार लिया गया हो।

यहाँ पर गणित, काल्पनिक आयाम तथा प्रमाण-पद्धति की चर्चा छिड़ गई है। अतः मुझे किसी गणित के ग्रन्थ में पढ़े एक उदाहरण की याद आती है जिसमें यह प्रमाणित किया गया है कि $1=2$। मान लीजिये कि $A=B$.

तब $AB=B^2 \therefore A^2-AB=A^2-B^2$

$$A^2-B^2 = (A+B)\ (A-B)$$

or $A^2-AB = (A+B)\ (A-B)$

or $A\ (A-B) = (A+B)\ (A-B)$

or $A = A+B$

or $A = A+A$

or $A = 2A$

or $1 = 2$

पता नहीं यह परिणाम कहाँ मान्य होगा। या मान्य भी हो सकता है क्योंकि अब तो यह भी प्रमाणित होने जा रहा है कि अंश भी पूर्ण से बड़ा हो सकता है। मुझे इन सब बारीकियों में पैठने से यहाँ मतलब नहीं। हम इतने से ही सन्तोप कर लेंगे कि इसमें एक आन्तरिक संगति और सम्भावना दीख जाती है। परवाह नहीं, जैनेन्द्र के पात्र अजनबी लगें, पर उनका अजनबीपन भी एक विशेप ढंग का है और सम्भाव्य है। हमें अरस्तू के शब्द याद हैं— "Probable impossibility is better than impossible probability. अर्थात्, "साहित्य में सम्भाव्य असम्भवता का महत्व है; असम्भाव्य सम्भवता का नहीं।" दास्तोव्स्की के पात्रों में, जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की पंक्तियों में की है, वैचित्र्य की कमी नहीं; वैसे पात्र जीवन में साधारणतः मिलते नहीं, पर फिर भी उनमें व्यापक जीवन के भौतिक तत्वों के साथ कुछ ऐसी आन्तरिक संगति है जिसके प्रति हृदय के तार अनुकूल प्रतिक्रिया तत्परत्व से झंकृत हो उठते हैं।

'मुक्तिबोध' जैनेन्द्र द्वारा प्रणीत आज तक के उपन्यासों में सबसे अंतिम उपन्यास है। उनके अन्य उपन्यासों की विशिष्टतायें इसमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। (१) यह भी आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, आकार में लघु है, कथा की कड़ियाँ स्पष्ट नहीं हैं, पात्रों के तथा घटनाओं के बाद में यों ही उड़ती सी सूचना देने की प्रवृत्ति उरुज पर है। कथा बहुत छोटी। एक व्यक्ति (जो कथा कह रहा है) को मिनिस्टरी दी जा रही है पर वह अपने आदर्शवाद के कारण

उसे स्वीकार करने की मनोवृत्ति में नहीं है। उसके स्वजन-परिजन, मित्र, पत्नी पुत्री, जामाता इत्यादि उस पर हर प्रकार का दबाव डाल रहे हैं कि वह ऐसा न करे। कारण उसके मंत्रित्व पद पर आसीन हो जाने से उनके कितने ही स्वार्थों की सिद्धि होती है। उनके जामाता एक पूंजीपति है, उनके कितने ही मिल हैं, एक नई मिल खड़ी करने की योजना भी है। उनके विरुद्ध सरकार की ओर से कुछ जांच भी हो रही है। स्पष्ट कोई बात कहें तो वह जैनेन्द्र ही क्या? लेकिन कोई आय-कर इत्यादि का मामला होगा जिसमें उनकी गिरफ्तारी की भी संभावना है, ऐसा पाठक अनुमान करता है। अतः वे हर तरह से उन्हें घेरना चाहते हैं और चाहते हैं कि पात्र इस पद को स्वीकार कर ले। क्योंकि ऐसा होने पर उनके बचाव में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

लेखक मिनिस्टर के पद को स्वीकृत करता है या नहीं यह बात स्पष्ट नहीं होती। अपनी पत्नी से वार्तालाप के बीच में कुछ आवेशपूर्ण वातावरण में कहता अवश्य है कि "मैं मिनिस्टर हो गया हूँ"। यह उपन्यास की अंतिम पंक्तियों में से है और यह कहना कठिन है कि यह आवेश-पूर्ण उक्ति मात्र है, व्यंग्य है या शांतचित्त से लिया गया निर्णय है। क्योंकि उसके बाद तो उपन्यास समाप्त ही हो जाता है। जयवर्धन का भी उपसंहार इसी आकस्मिक ढंग से किया गया है। पर जयवर्द्धन के उपसंहार तथा मुक्तिबोध के उपसंहार में थोड़ा अंतर है। जयवर्धन में अंत में आते आते पाठक को इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि जय का विवाह इला से होने वाला है। निमंत्रण पत्र भी बंट गया है, सारी तैय्यारियां भी हो गई हैं, जय ने स्वयं कितने लोगों से वार्तालाप के प्रसंग में कहा भी है और इसी के आधार अपने कट्टर विरोधी चिदानन्द की भी सहानुभूति प्राप्त की जा सकी थी। "१३ ता० प्रातः जय और इला का विवाह हुआ हुआ। आचार्य थे, स्वामी थे और आश्रम के कुछ लोग थे। ब्राह्म मुहूर्त में सब सम्पन्न हो गया। विधि संक्षिप्त और स्वल्प। कुल दस मिनट से अधिक नहीं लगा।" यहां तक तो ठीक। पर "सवेरे पाया गया, जय नहीं है।......इन्द्र मोहन भी नहीं है।" अतः विवाह के बारे में किसी तरह की शंका किसी को नहीं है। पाठक को अथवा जय के सम्पर्क में आने वाले सब व्यक्तियों को यह रहस्य समझ में नहीं आता था कि जब वे एक साथ इतना घनिष्ठ जीवन व्यतीत कर ही रहे हैं तो विवाह में क्या बाधा है। पाठक संतोष की सांस लेता है कि घटना की चरम निष्पत्ति स्वाभाविक ढंग से हुई। तब तक जयवर्धन को स्टेज से अचानक हटाकर उपन्यासकार पाठक के हृदय को अनेक तरह की लहरों में तरंगायित होने के लिये स्वतंत्र तथा असहाय छोड़ देता है।

पर मुक्तिबोध की बात दूसरी है। कथाकार-पात्र प्रारंभ से अंत तक मंत्री-पद को अस्वीकार करने में दृढ़ रहा है। कहीं भी किसी तरह की दुर्बलता उसमें नहीं दिखलाई। वह सबके अनुनय विनय को ठुकरा देता है। पाठक कल्पना भी नहीं करता कि वह इस पद को स्वीकार करेगा, पर वह परिस्थितियों के दबाव में पड़कर अपनी बेटी की दयनीय दशा को देखकर पद को स्वीकार कर लेता है। मतलब यह, जैनेन्द्र की उपन्यासकला ने मानसिक आघात देकर झकझोर देने वाली पद्धति जिसे अंग्रेजी में Shock tactics कहते हैं को अपनी मुख्य प्रवृत्ति बना ली है। जयवर्धन में पाठकों के करतलगत संतोष को वह छीन लेता है, मानो पाठकों का इतना सा भी सुख उसे सह्य नहीं। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में वह परपीडक (sadist) है। दूसरों को पीड़ित कर ही उसकी मनोवृत्तियाँ तृप्ति-लाभ करती है। पर मुक्तिबोध में जैनेन्द्र ने अपने कथाकार-पात्र को आत्मपीडक के रूप में उपस्थित किया है। यह बात स्पष्ट नहीं कि कथाकार-पात्र ने मिनिस्टरी स्वीकृत की है या नहीं। पर यदि उसने स्वीकृति दी है तो उसने अपने हृदय पर कितना बड़ा पत्थर रखा होगा यह कल्पना कठिन नहीं!

जैनेन्द्र के उपन्यास में हम मनोविज्ञान ढूंढ रहे हैं। उपन्यास की कलात्मकता की कसौटी पर कस कर इसमें भले ही त्रुटियाँ दिखलाई जाय पर इसमें संदेह नहीं कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये यह छोटी-सी पुस्तिका बहुत ही उपयोगी तथा मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत करती है।

किसी कलात्मक कृति पर विचार करते समय हमारे सामने मूलतः तीन सत्तायें सामने आती हैं : (१) कलाकार, कवि, यहां उपन्यास के प्रसंग में उपन्यासकार, (२) कृति, कविता, यहाँ उपन्यास, (३) सहृदय, पाठक। इन तीनों को ध्यान में रखकर उपन्यास पर विचार किया जा सकता है। उपन्यास को पढ़कर हम उपन्यासकार की मूल मनोवृत्ति, उसकी अंतस्थ प्रवृत्ति, उसके व्यक्तित्व, का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। हम उन घटकों (factors) का पता लगा सकते हैं जिन्होंने एक व्यक्ति अर्थात् उपन्यासकार को कला-स्रष्टा बना दिया। वह कौन-सी वस्तु थी जो कबीर जैसे "मसि कागज छूओ नहीं कलम गह्यो नहीं हाथ" व्यक्ति को अपूर्व शक्ति-सम्पन्न काव्य-रचना की सामर्थ्य प्रदान की। जैनेन्द्र की रचनाओं पर विचार करते समय मनोविज्ञान के साहचर्य नियमानुसार कबीर का स्मरण हो आना स्वाभाविक है, क्योंकि आधुनिक साहित्यकारों में जैनेन्द्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पोथी बाँचने का ज्ञान सबसे कम है। उनके कथनों से तो यही प्रगट होता है कि उन्होंने सप्रयास पुस्तकी विद्या से अपने को

दूर रखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि पुस्तकालय के निवासी हो जाने से व्यक्ति की सृजन शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वे कहते भी हैं कि "मेरी अज्ञता ही मेरी शक्ति है।" अतः एक अज्ञ की वाणी दूसरों को विज्ञ बनाने में किस तरह समर्थ हो गई यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर मनोविज्ञान के पास होना चाहिये। अर्थात् रचना से रचनाकार को समझने में सहायता मिलती है। पर जिस रचना में रचनाकार तक पहुँच जाने देने की जितनी अधिक या कम शक्ति होगी वह उसी अनुपात में मनोवैज्ञानिक संज्ञा की अधिकारिणी होगी। कुछ उपन्यास ऐसे हो सकते हैं जिनमें घटनाओं की प्रत्येक प्रेरणा तथा पात्रों के सारे क्रिया-कलाप एवं व्यापारों के पीछे सक्रिय रहने वाली मानस प्रक्रिया का विस्तृत उल्लेख किया गया हो। कुछ ऐसे भी उपन्यास हो सकते हैं जिनमें इस तरह का कोई भी प्रयत्न नहीं हो, पर घटनाओं तथा पात्रों का संक्षिप्त विवरण ही ऐसा हो जो पाठकों को अपने पीछे झांकने की प्रवृत्ति पैदा करते हैं और जब तक पाठक स्वयं अपने मन में उनकी संगति नहीं बैठा लेता उसे तृप्ति नहीं होती।

C. G. Jung ने *Modern Man in Search of a Soul* नामक पुस्तक में Psychology and Literature (मनोविज्ञान और साहित्य) नामक निबंध में उपन्यासों के इस तरह के वर्गीकरण किये हैं। प्रथम वर्ग को उन्होंने मनोवैज्ञानिक संज्ञा (Psychological) दी है और द्वितीय को कल्पना-प्रेरक कहा (Visionary) है, साथ ही यह भी कहा है कि प्रथम श्रेणी के उपन्यास साधारण व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी होते हैं, कारण इनके अध्ययन से उन्हें मानस प्रक्रिया का ज्ञान सुलभ हो जाता है। द्वितीय श्रेणी के उपन्यास मनोवैज्ञानिकों के प्रिय होते हैं, कारण उनके द्वारा मनोवैज्ञानिकों को अपनी विशेषज्ञता को चुनौती मिलती है और उन्हें अपनी गुत्थियों, वक्रताओं, तथा वैचित्र्यों को सुलझाने के लिये ललकारते हैं। ऐसे ही अवसरों पर मनोवैज्ञानिकों को अपने ज्ञान का जौहर दिखलाने का अवसर प्राप्त होता है। हिन्दी में श्री इलाचंद जोशी के उपन्यास प्रथम वर्ग में आयेंगे क्योंकि पात्रों की छोटी-छोटी क्रियाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। जैनेन्द्र को हम दूसरी श्रेणी में रखेंगे, क्योंकि उनके पात्रों में कम विचित्रता तो नहीं और वे पाठक को अपने अन्तराल में झांकने के लिये भी आमंत्रित करती है, पर लेखक ने अपनी ओर से कुछ भी व्याख्या नहीं दी है। हां, घटनायें या पात्र जितना बोल जाय और पाठक सुन ले यह बात दूसरी है।

मैंने एक जगह यह स्थापना करने का प्रयत्न किया है कि उपन्यास मूलतः Voyeur होता है, मतलब रहस्यदर्शी, दूसरों के गुप्त रहस्यों के देखने की

उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और वह दूसरों को भी वैसा Voyeur बनाना चाहता है। जैनेन्द्र में यह प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर है। वे खुल कर कभी बात नहीं कहते, वे पूरी सूचनायें कभी नहीं देते, वे बहुधा वाक्य भी अधूरे ही कहते हैं पर इसी कारण उनकी घटनायें या पात्र भरी पिस्तौल के मानिन्द बने रहते हैं। आप जरा उन्हें अपने मनोवज्ञानिक हाथों को दीजिये, आप उनकी कारवाई पर आश्चर्यचकित हो जायेंगे। सुदूर भविष्य में यदि जैनेन्द्र के उपन्यास पाठकों की भाव-सत्ता पर अधिकार बनाये रह सकेंगे तो अपनी मनोवैज्ञानिक ध्वनि के बल पर ही। उनमें अभिधेय कम है, व्यंग अधिक है। और यह व्यंग्य मनोविज्ञान की राह से ही पकड़ में आ सकता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की चर्चा करते समय मैंने कई बार ऐसा कहने का साहस किया है कि यदि उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना भी साहित्यालोचक का ध्येय है तो जैनेन्द्र के उपन्यासों में इसके लिये विपुल सामग्री उपलब्ध है। पर मुक्तिबोध से एक नई प्रवृत्ति उनमें उभरती-सी दिखलाई पड़ती है। वे अब अपनी ही बात न कह कर अपने परिवार की भी बात कहने लगे हैं। इस उपन्यास के पात्रों में उनके पारिवारिक जीवन की झलक पा लेना कठिन नहीं है। अभी प्रकाशनाधीन उपन्यास अनन्तर में यह प्रवृत्ति और भी विकसित मालूम पड़ती है। ऐसे उपन्यासों का महत्व यह है कि ये उपन्यासकार की जीवनानुभूति से प्रेरित होते हैं, कला के माध्यम से सामने आते हैं। कथाकार की घटनायें उसके मनोवैज्ञानिक रस से स्वाभाविकतया सराबोर रहती हैं। पर कथाकार सामने ताल ठोंक कर आता नहीं। अतः घटनायें संकेत रूप में आती है। पाठक की दृष्टि से इसका महत्व यह है कि वे पाठक के मनोविज्ञान को उभारती हैं। उपन्यासकार ने तो सब बातें कही नहीं। पाठक यह सोचता है कि यदि वह स्वयं पात्र होता या उन घटनाओं का द्रष्टा होता तो वह उनका क्या बनाता। यह रहा पाठक का मनोविज्ञान। उपन्यास की बाह्य आकृति भी कुछ छट-पट, लुका-चोरी की हो जाती है। उसके looks furtive हो जाते हैं, वैसे ही जैसे बिल्ली की मुद्रा शिकार करते समय हो जाती है। साहित्यिक अभिरुचि वाले पाठकों के लिए भी यह उपन्यास कम सामग्री नहीं देता पर यदि पाठक में थोड़ी भी मनोवैज्ञानिक अभिरुचि हुई तो वह इन छोटी-मोटी घटनाओं के आधार पर बड़े-बड़े तथ्य उपलब्ध कर ले सकता है।

'मुक्तिबोध' में ऐसे बहुत से प्रसंग हैं जो मनोवैज्ञानिकों के लिए बहुत कुछ सोचने की सामग्री प्रस्तुत करेंगे। वीरेस्सर का अपने पिता के प्रति आक्रोश

के क्या कारण हैं, प्रमुख पात्र में मिनिस्टर के पद की अस्वीकृति के लिए इतनी उग्रता क्यों है, क्या वह अपने आदर्शों की रक्षा उस पद पर रहते हुए नहीं कर सकता था, उसका जमाता बड़ी विपत्ति में फंसने वाला है पर फिर भी उसे अपनी सहायता की बांह देने के लिए तैयार नहीं, उसकी पत्नी राजेश्वरी अवश्य अपने जामाता के पक्ष में है पर प्रमुख पात्र अपनी पत्नी के इस व्यवहार पर प्रसन्न नहीं दीखता। नीलिमा के साथ जो उसके सम्बन्ध हैं इसमें भी कुछ असाधारणता है। वह वैसा सम्बन्ध नहीं है जो मनसा स्वस्थ व्यक्ति में हम पाने, देखने-सुनने के अभ्यस्त हैं। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में हम ऐसे पुरुष पात्र तो देख आये हैं जिनमें अपनी मानसिक तृप्ति के लिए, अपने को प्रणयोद्वेलित पाने के लिए एक आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता थी। पर आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता वाली नारी अभी जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं आई थी। यहाँ से यह प्रवृत्ति प्रारंभ होती है। पता नहीं कि इस प्रवृत्ति की परिणति किस तरह होगी। उपन्यास-कला के विकास की दृष्टि से इसकी संभावनाएँ क्या हैं इस पर मैं अपना मस्तिष्क खुला रखता हूँ।

ऊपर की पंक्तियों में जैनेन्द्र के उपन्यासों का अध्ययन करते समय मैंने पर्याप्त स्वतंत्रता से काम लिया है। पर यदि हम एक बार यह स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य के क्रिया-कलाप सांकेतिक होते हैं, जितना बाहर से वे दीखते हैं, वे उतने ही नहीं हैं उनमें कुछ विचित्र गहराई है जहाँ तक पहुँचने के लिए कुछ बाह्य साधनों की आवश्यकता तो है तो यह स्वतंत्रता बहुत अस्वाभाविक नहीं लगेगी। ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्ति में जीवन की गहराई में जाकर देखने की प्रवृत्ति जगेगी। जब तक हम स्थूल को स्थूल समझकर ही संतोष कर लेते थे, स्थिर को स्थिर ही माने बैठे रहते थे तब तक भी हमारे व्यावहारिक जीवन को चलते रहने में कोई कठिनाई नहीं होती थी, पर जबसे हम स्थिरता को गति की चरमोत्कर्षता समझने लगे, स्थूलता को गतिशीलता का पिंडीभूत रूप समझने लगे, तब से हमारे जीवन का स्वरूप ही बदल गया। हमारे जीवन में क्रांति आ गई, हमारा दृष्टिकोण बदल गया, जीवन समृद्धि को प्राप्त हुआ।

आये दिन जीवन में ऐसे उदाहरण मिलते ही रहते हैं। यूरोप तथा अमेरिका के मनःचिकित्सकों ने अनेक जीवन-वृत्तों (case histories) के उदाहरण संकलित किये हैं जिनके द्वारा मनुष्य के व्यापारों के सांकेतिक पहलू का महत्व स्पष्ट हो जाता है। यदि हम इस पक्ष को नहीं जान पाते तो उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के रहस्य से अनभिज्ञ ही रहते हैं। मेरे सामने चिकित्सकों द्वारा

संगृहीत जीवन वृत्त का कोई ग्रन्थ इस समय उपस्थित नहीं है। परन्तु ८ दिसंबर के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में डॉ० शुभा त्रिवेदी का 'मन की गाँठें' नामक लेख उपलब्ध है। उसमें उन्होंने एक ३८ वर्षीया शिक्षित महिला की कथा, कथा नहीं सच्ची बात कही है। उसके पति की पदोन्नति हुई। वह पुराने छोटे घर से नये बड़े घर में जाने की तैय्यारी करने लगी कि अन्दर से उसे बड़ी ही निराशा, थकान तथा अवसादों के भावों ने आ घेरा। हालत यहाँ तक बिगड़ी कि वह अपने हाँथ-पाँव हिलाने-डुलाने में भी असमर्थ हो गई। प्रश्न यह है कि पति के पदोन्नति जैसे आनन्द महोत्सव वेला में यह अचानक मानसिक गिरावट, पस्तहिम्मती क्यों ? यदि कोई बाहरी कारण नहीं तो आन्तरिक कारण होना ही चाहिए। डॉ० शुभा त्रिवेदी ने अपने मनोविश्लेषण के द्वारा जो कारण ढूंढ निकाला उसका थोड़ा-सा अंश सुनना मनोरंजक होगा और इसके द्वारा जैनेन्द्र के उपन्यासों के सम्बन्ध में यहाँ पर अपनाए गए दृष्टिकोण का औचित्य भी मालूम पड़ेगा। यहाँ पर रोगिणी के अचेतन में सक्रिय रहने वाली प्रवृत्तियों की कथा से हमारा कोई मतलब नहीं। हम डाक्टर के निदान तथा उसके निष्कर्ष की ही चर्चा करेंगे।

"इसी तरह पति की पदोन्नति और नए घर पर खुशी जाहिर करने की बजाय गहरी हताशा का दौरा पड़ जाने के पीछे भी प्रतीकात्मक अर्थ है कि पहले से व्यस्त रहते पति को इस पदोन्नति से और व्यस्तता बढ़ेगी—इस असुरक्षा और खुले बड़े घर में पहले की अपेक्षा असुरक्षा के भय ने उन्हें इतना हताश कर दिया कि घर बदलने और उसकी साज-सज्जा का काम उन्हें अपनी अपनी शक्ति या बूते के बाहर का भाग लगा। इतना भार कि यह इतना बड़ा घर तो उनसे किसी तरह भी नहीं सम्भल सकता; कि उनमें तो उठने तक की शक्ति नहीं है। और वह सब कुछ छोड़-छाड़कर शिथिल हो पड़ गई।"

मेरी कल्पना है कि कभी समय आ सकता है कि जब मुक्तिबोध जैसे लघु उपन्यास में आई हुई घटनाओं के पीछे कोई झाँककर देखेगा और अपने दृश्य को लिपिबद्ध करने की भी उसमें क्षमता होगी तो एक नये उपन्यास का स्वरूप खड़ा होगा। जैनेन्द्र के बूते की बात यह नहीं है। क्योंकि मनुष्य के अचेतन व्यापारों का शास्त्रीय ज्ञान उन्हें नहीं है, भले ही उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिक हों। यह मनोविज्ञान वहाँ पर उनके कारण नहीं उनके बावजूद व्यापक जीवन-प्रवाह की लपेट में आ गया है। यह वही कर सकेगा जिसके पास मनोविज्ञान की सतर्क आँखें होंगी। इसी दृष्टि से मुक्तिबोध का मनोवैज्ञानिक महत्व है। यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। भारतीय साहित्य अकादमी द्वारा यह छोटी

उपन्यासिका ५०००) के पुरस्कार से पुरस्कृत है। इस पर बहुतों को आश्चर्य हुआ था, स्वयं मुझे भी हुआ था। मैं नहीं जानता कि इस पुस्तक के मूल्य-निर्धारण में कौन-कौन से विद्वानों का हाथ था। पर वे अवश्य मनोवैज्ञानिक होंगे। इस उपन्यास को पढ़कर अवश्य उनकी गहराई में छिपी किसी आंतरिक वृत्ति को अनिर्वचनीय सन्तोष प्राप्त हुआ होगा। भले ही उन्हें इस बात की अवगति न हो।

मैंने इतने क्षिप्रतर साधारणीकरण किये हैं और ऐसी मान्यताएँ उपस्थित की हैं कि मुझे अब रुक जाना चाहिए। आगे बढ़ने में इतनी गहराई में उतरना पड़ेगा जहाँ मनोविज्ञान की डोंगी प्राणों की रक्षा नहीं कर सकेगी। साहित्य की रक्षा विषय-वस्तु की महनीयता पर निर्भर नहीं करती; वह सृष्टा की अनुभूति तथा कला पर निर्भर करती है। अन्त में, मैं एक रूपक द्वारा इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। डॉ० रांगेय राघव पर विचार करते समय इस रूपक की कल्पना मेरे मन में आई थी। एक दृश्य लीजिये और कल्पना कीजिये कि हिन्दी के भिन्न-भिन्न कथाकार इसे किस रूप में उपस्थित करेंगे और मेरा मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इस दृश्य का क्या बनायेगा।

एक परमसुन्दरी नवविवाहिता नवयुवती, जिसका पति नगर का एक डॉक्टर है, अपने पति से ऊब गई है······बोर हो गई है। वह एक नवयुवक से प्रेम करने लगती है। नवयुवक ने भी उसे छोड़ दिया और नगर से बाहर चला गया। नारी हताश है और जान-बूझकर एक अधेड़ पर सम्पन्न व्यक्ति के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाती है। उसका मन भी अब इस नारी से ऊब गया है। जिस समय यह दृश्य प्रारम्भ होता है उस समय नारी को उसका परित्याग-पत्र (letter of desertion) प्राप्त हो गया है। वह इसे छोड़े जा रहा है। फिर कभी नहीं मिलने का। पत्र पाते ही नारी विकल हो जाती है, ऊपर छत की ओर दौड़ती है, पत्र पढ़ती है, हिस्टीरिया की दशा उसे घेर लेती है। वह खिड़कियों से सड़क की ओर देखती है ताकि वहाँ से कूदकर सब किस्से को समाप्त कर दे। पर उसका माथा चकरा जाता है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और वह रुक जाती है। तब तक पति की आवाज उसे सुनाई पड़ती है। सेवक उसकी बाँहों को स्पर्श करता है। वह लौट आती है और स्वास्थ्य-लाभ करती है।

प्रेमचन्द तो ऐसे दृश्य को छूते ही नहीं। हालांकि सेवा-सदन में इस तरह के दृश्यों की गुंजाइश थी। प्रसादजी ऐसे दृश्यों को ले सकते तो थे, पर इस दृश्य का क्या बनाते, पता नहीं। शायद नारी को छत से कूद जाने देते, मानो

खेल खतम पैसा हजम ! अज्ञेय इस दृश्य को अपनाने में कम उत्साह नहीं दिखलाते, पर शायद वह गर्भवती भी थी। अतः गर्भपात की व्यवस्था के लिए उसे रोक लेते। प्रभाकर माचवे डंके की चोट कहते, "और मीनल गर्भवती हो गई"। आज के उपन्यासकार इस दृश्य को जो नंगा नाच नचाते, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

डॉ० रांघेय राघव इस यौन स्वच्छन्दता के चित्रण से मुँह तो नहीं मोड़ते, पर इसके लिए वे किसी सभ्य समाज की नारी को नहीं लेते। इसके लिए किसी नट जाति की नारी को लेते जहाँ यौन स्वच्छन्दता प्रचलित है, मान्य है, गर्हित नहीं समझी जाती। मेरे जानते, हर तरह से अपने को आधुनिकता के प्रति खुला रखने पर भी शिश्नोदर के प्रति उन्मुक्त उदारता के भाव उनमें नहीं आये थे। वे सभ्य समाज की नारी को अवैध यौन सम्पर्क में आती दिखलाने में डरेंगे तो नहीं, पर वह विवश परिस्थितियों का परिणाम होगा। वह या तो बलात्कार का केस होगा या अकाल-पीड़ित क्षुधा-निवारण करने के लिए सौदा होगा, उनकी नारियाँ अवैध यौन सम्पर्कों के कारण गर्भ भी धारण करेंगी, पर गर्भपात नहीं करायेंगी। हाँ, अपने गर्भ से उत्पन्न शिशु को किसी गरीब व्यक्ति को सम्पत्ति देकर लालन-पोषण की व्यवस्था कर देंगी। जैनेन्द्र ऐसे दृश्यों को सोत्साह अपनाते, पर उनकी अहिंसा नारी को आत्म-हत्या तक नहीं बढ़ने देती। उनकी किसी नारी ने आत्म-हत्या की कल्पना नहीं की है। नहीं तो मृणाल, कल्याणी क्या आत्म-हत्या की बात नहीं सोच सकती थीं ? वे आत्म-पीड़क तो हैं, पर आत्म-हिंसक नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तिल-तिल मरना (masochism) तो ठीक है, 'पर एक झटके में आत्म-हत्या' वहाँ नहीं की जाती।

अब कल्पना करूँ कि मेरा उपन्यासकार क्या करता ! मेरे उपन्यासकार की नारी अदन्र से व्याकुल तो होती। उसके अन्दर व्याकुलता तो जगती— ऐसी व्याकुलता की आँधी उठती जो सारे विश्व को बहा दे। पर वह आत्म-हत्या के लिए छत पर नहीं दौड़ती। वह चुपचाप आँधी को पी जाती। उपन्यास, जिसमें कहानी का विकास सीधी रेखा में होता है, वहीं समाप्त हो जाता। वह बैठकर मन-ही-मन सोचती, स्वगतोक्तियाँ करती, अपने विगत जीवन को और पूर्व-दीप्त दृष्टि (flash back) से देखती। उसी में कितने उपन्यास बनते और बिगड़ते। वह कहती कि क्या कीजियेगा उपन्यास देखकर ? मतलब निकाल लीजिये हाले दिलेज़ार देखकर। आधुनिक हिन्दी उपन्याकारों से मेरी तो यही शिकायत है कि वे इन टेकनीक का अधिकाधिक प्रयोग क्यों नहीं करते ? जैनेन्द्र के भरोसे बैठ रहना ठीक नहीं। आगे बढ़ना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का जन्म किस समय हुआ अर्थात् किस समय साहित्य में इस तरह के उपन्यास के लिखने की प्रथा प्रारम्भ हुई, यह कहना जरा कठिन प्रतीत होता है। परन्तु आलोचकों ने सेमुअल रिचर्डसन को अंग्रेजी-साहित्य के प्रथम मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में याद की है। इसका कारण यह है कि रिचर्डसन ने अपने सारे उपन्यासों की रचना पत्रात्मक शैली में की है। इस पद्धति के अनुसार कथाकार अपनी ओर से कथा नहीं कहता और इस तरह पाठकों के रिक्त मस्तिष्क को कहानी से भरकर उनकी कौतूहल-वृत्ति को शान्त करने की चेष्टा नहीं करता। पाठक पत्रों को पढ़ता जाता है और उसी के सहारे कहानी की सृष्टि होती जाती है। इस तरह पाठक पात्रों के वैयक्तिक और मानसिक जीवन के सीधे सम्पर्क में आ जाता है। पाठक को पात्रों के आन्तरिक प्रदेश में होनेवाले ड्रामा को साक्षात् रूप में देखने का अवसर मिलता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य भी यही है।

मानव-मस्तिष्क में प्रवाहित होनेवाली चेतना को अपने प्रवहमान एवं प्राणवान रूप में अर्थात् उस रूप में जिस वक्त वह प्रवाहित हो रही हो, उसे ठीक-ठीक रूप में पाठकों के सामने रखने के लिए उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता का प्रयोग होता है। इस ओर प्रथम प्रयत्न पत्रात्मक शैली में उपन्यास लिखकर रिचर्डसन ने किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास को ठीक तरह से समझने के लिए आप एक पूरी शक्ति के साथ नाचते हुए लट्टू की कल्पना कीजिए। लट्टू अपनी पूरी शक्ति के साथ नाच रहा है। कोई चतुर और कौशलपूर्ण खिलाड़ी उस लट्टू को पकड़ ले और इस तरह से पकड़े कि वह लट्टू नाचता ही रहे। इसी तरह का प्रदर्न आजकल के मनोवैज्ञानिक उपन्यास की ओर से होता है। मनुष्य नृत्य करता हुआ लट्टू है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उस लट्टू को हमारे सामने पकड़कर उसके सम्पूर्ण घूर्णन और प्रतिघूर्णन को दिखलाने की चेष्टा करता है। इस असम्भव-से लगनेवाले प्रयत्न में जिसको जितनी सफलता मिलती है वह उसी अनुपात में मनोवैज्ञानिक कथाकार होने का दावा कर सकता है। इसमें भी कितने ही स्तर होते हैं। मैंने अभी तक वैसे खिलाड़ी

को तो नहीं देखा है जो लट्टू को पकड़कर नाचते हुए ही दर्शकों को दिखला सके, पर ऐसे खिलाड़ियों को जरूर देखा है जो नाचते हुए लट्टू को डोरी के सहारे ऊपर को इस तरह उछाल दें कि वह आकाश में एकदम नाचता हुआ रहकर अपनी दिव्यता से दर्शकों के चित्त को आह्लाद से भर दे। ये सब बातें कला के कौशल से प्राप्त होती हैं और प्राप्त होती हैं अपनी प्रतिभा और मानसिक संस्कार के द्वारा।

साइकिल आदमी को केवल दो-चार मील पहुँचा देने के लिए ही बनी है, परन्तु ऐसे कुशल साइकिल-चालक भी देखे गये हैं जो दो-दो दिनों तक साइकिल को चलाते हुए उसीपर, बिना उतरे हुए, दैनिक जीवन की सारी क्रियाओं का सम्पादन करते हों अर्थात् स्नान, खान-पान इत्यादि भी करते हों। यह भी असम्भव-सा प्रतीत होता है, परन्तु मनुष्य की प्रतिभा ने कुछ ऐसे कौशल का आविष्कार कर लिया है कि असम्भव-सी लगनेवाली बात भी सम्भवता के समीप पहुँच गई है। मानव-मस्तिष्क एक उबलता हुआ कड़ाह है। उसमें सारी चीजें अपने अस्थिर रूप में वर्तमान रहती हैं। इस अस्थिरता और चांचल्य को स्थिर और दृढ़ रूप में दिखलाने का प्रयत्न मनोवैज्ञानिक उपन्यास करता है। नश्वर स्वर में अनश्वर गीत गाने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास का काम यही है कि वह मनुष्य के वास्तविक सत्य स्वरूप का चित्रण हमारे सामने उपस्थित करे। आलोचना के क्षेत्र में हम यथार्थवाद, आदर्शवाद जितने नाम सुनते हैं वे सब इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए आविष्कृत हुए हैं। सबों का उद्देश्य यही रहा है कि वे अपने ढंग से मानव के सच्चे रूप को दिखलायें। यही उद्देश्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का भी है। जोला और ड्रेसियर ने भी मानव को अपनी प्रयोगशाला में रखकर वैज्ञानिक ढंग से उसके एक-एक व्यवहार को परखने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में प्रेमचन्द ने भी कुछ-कुछ वैसा ही प्रयत्न किया है। कथाकार जैसे जेम्स जॉइस, वर्जीनिया वुल्फ़, डोरोथी रिचर्डसन, जैनेन्द्र इत्यादि भी वही कर रहे हैं। परन्तु दोनों में एक विशेष अन्तर है और इसी अन्तर के कारण हम एक को मनोवैज्ञानिक कथाकार कहेंगे, दूसरे को नहीं। और यह अन्तर वर्ण्य वस्तु का है। पूर्व के उपन्यासकार आदमी की क्रियाओं और उसके हेतु का वर्णन करना ही अपना प्रधान लक्ष्य समझते थे; अर्थात् उनका ध्यान external man (मनुष्य के बाहरी रूप) तक ही सीमित रहता था। यदि थोड़ी-बहुत आन्तरिकता आ जाती थी तो वह महज मामूली-सी चीज होती थी। वे मनुष्य की त्वचा के ऊपर ही ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे और उनकी

कला की किरणें यदि थोड़ी बहुत अन्दर प्रवेश करती भी थीं तो वह skin deep होता था। परन्तु आज के कथाकार का उद्देश्य internal man का चित्रण करना होता है अर्थात् उसकी दृष्टि मनुष्य के बाहरी डील-डौल से अधिक आन्तरिक सूक्ष्मता की ओर ही रहती है। उसकी रचना का आधार मनुष्य की आन्तरिक-मानसिक सत्ता और क्रियाएँ होती हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इन दो तरह के कथाकारों में वही अन्तर है जो आचरणवादी मनोवैज्ञानिक विचार-पद्धति में और विश्लेपणवादी विचार-पद्धति में है। आचरणवादियों के लिए मनुष्य की आन्तरिक सत्ता का महत्त्व नहीं। वे मनुष्य को बाहरी क्रिया-कलापों के माध्यम से ही समझना चाहते हैं। मनोविश्लेषणवादियों की दृष्टि में मनुष्य की अन्तःस्थ और अज्ञात प्रवृत्तियाँ ही सब कुछ होती हैं। पूर्व के उपन्यासकार जिनकी दृष्टि external man पर ही केन्द्रित रहती थी, वे आचरणवादियों के अधिक समीप हैं और आज के कलाकार मनोविश्लेषणवादियों के। एक बहिर्मुखी है दूसरा अन्तर्मुखी। अतः समग्र रूप से देखें तो इन दो तरह के कथाकारों का अन्तर वही है जो 'करोति' और 'अस्ति' में है। एक इस बात पर ध्यान देता है कि मनुष्य क्या करता है और दूसरा यह बतलाना चाहता है कि मनुष्य क्या है। और यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य पहले 'है', तब बाद में वह करता है। और 'है' का महत्त्व इस तरह से अधिक हो जाता है क्योंकि यह मनुष्य की सत्ता ही है जिसके आधार पर उसके क्रिया-कलापों की इमारत खड़ी होती है। आप एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो दौड़कर एक लक्ष्य पर पहुँच जाना चाहता है। उसके दो रूप हैं : एक में वह दौड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है और वही रूप साधारणतः लोगों को दिखलायी भी पड़ता है; परन्तु उसका एक दूसरा रूप भी है जिसमें वह सोचता है, विचार करता है, उच्छ्वसित होता है, निश्चय करता है। यही रूप उसके सब रूपों का जनक है और इस रूप को जो कथा-कार दिखलाता है वही मनोवैज्ञानिक कथाकार कहा जायेगा।

दूसरे शब्दों में, हम यही कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक कथाकार मनुष्य के बाहरी क्रिया-कलापों को छोड़कर उसकी चेतना को ही अपने वर्णन का आधार बनाता है। परन्तु चेतना एक बहुत ही गोल-मटोल-सा शब्द है और स्मृति, बुद्धि इत्यादि जैसी मानसिक प्रक्रियाओं के लिए प्रायः इसका प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के प्रयोग में जितनी अस्पष्टता और अव्यवस्था है उतनी शायद किसी भी दूसरे शब्द के सम्बन्ध में नहीं होगी। वास्तव में चेतना का क्षेत्र बहुत व्यापक है इसके व्यापकत्व की सीमा में एक छोर पर तो अचेतन या

अर्धचेतन है जिसका हमें साधारण आभास भी नहीं होता। दूसरे छोर पर दिन-रात काम में आनेवाली, पहचान में आनेवाले व्यवहार के आधार-रूप में उपस्थित होनेवाली विचारधाराएँ हैं जिन्हें हम अच्छी तरह से जानते हैं और जिनका विवरण हम दूसरों के सामने अच्छी तरह से उपस्थित कर सकते हैं। पूर्व के उपन्यासकार अपनी दृष्टि को वाहरी क्रियाकलापों तक ही सीमित रखते थे। जैसे देवकीनन्दन खत्री को ले सकते हैं। यदि वे वहुत आगे वढ़े तो चेतना के उसी क्षेत्र तक जा सके जहाँ के प्रत्येक पहलू से मनुष्य परिचित होता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद को ले सकते हैं। थैकरे, डिकेन्स वगैरा भी इसी श्रेणी में आयेंगे। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास हमारी चेतना के उस स्तर पर अपना कारवार छानना पसन्द करेगा जहाँ की धारा एकदम अस्पष्ट होती है, लचीली होती है, असंगठित होती है और जिन्हें शब्दों के माध्यम से प्रकट करना कठिन होता है। हमें सदा यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य की चेतना में अनेक स्तर होते हैं—एक छोर पर अज्ञात है और दूसरे छोर पर ज्ञात की दृढ़ता है और इन दोनों के वीच कितने स्तर ऐसे हो सकते जिनका ठीक-ठीक भूगोल वनाना न तो संभव ही है और न आवश्यक ही। पर दो स्तर तो स्पष्ट पहचान लिये जा सकते हैं : एक को हम वाचिक स्तर कहेंगे और दूसरे को पूर्ववाचिक स्तर।

वाचिक स्तर से हमारा अभिप्राय क्या है ? यदि हम अपने मानस की प्रक्रियाओं पर थोड़ा-सा भी ध्यान दें तो पता चलेगा कि हमारे मानस की एक वह भी अवस्था होती है जिसमें विचार आते हैं, उमड़ते-घुमड़ते भी रहते हैं, उनका प्रभाव हम पर पड़ता भी है, वे तनाव भी करते रहते हैं, परन्तु वे क्या हैं, उनका सच्चा स्वरूप क्या है, इसे कुछ चुने हुए शब्दों के माध्यम से कह देना कठिन होता है। उनका अस्तित्व है इसमें कोई सन्देह नहीं। यह निश्चित है, परन्तु जो निश्चित नहीं वह यह है कि उन्हें किन शब्दों में व्यक्त किया जाय। जैनेन्द्र का पूरा कथा-साहित्य ही ऐसी ही अस्पष्टता, अवाचिकता, शब्द-हीनता से पूर्ण है। पात्रों की भावनाओं को छोड़िये। वे तो अवोध होती हैं, उन्हें समझ पाना कठिन होता है। पर उनकी वाह्य घटनाओं के स्वरूप का भी निर्णय करना कठिन हो जाता है। घटनाएँ मानो कार्क के छोटे-छोटे टुकड़े हों जो मनोवैज्ञानिक आँधी पर चढ़कर स्वयं आँधी वन गई हों। दूसरा स्तर वह है, जहां ठीक से सोच-समझकर उनके स्वरूप को पहचान कर हम उनका शब्दों के द्वारा वर्णन कर सकते हैं। दूसरे को हम वाचिक स्तर कहेंगे और पहले को पूर्ववाचिक स्तर।

पहले के जितने कथाकार थे वे अपना व्यापार इस स्थान से प्रारम्भ करते थे जहाँ हमारे मस्तिष्क की वाचिक अवस्था प्रारम्भ हो जाती थी और हम उसका शाब्दिक विश्लेषण कर सकते थे। प्रेमचन्द हमें खूब बतला सकते हैं कि सुमन को अपने पतिगृह का परित्याग करते हुए कौन-कौन-सी मानसिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। परन्तु आज का मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इसके भी पीछे जाकर उस सूत्र को हिलाना चाहेगा जिसका कोई वाचक स्वरूप निर्णीत नहीं हो सका है। इसी वाचिक और अवाचिक मानसिक स्तर के अन्तर में मनोवैज्ञानिक और अ-मनोवैज्ञानिक कथा निहित है।

परन्तु यह ख्याल रखना चाहिए कि जब हम एक कथाकार को मनोवैज्ञानिक कहते हैं और दूसरे को अमनोवैज्ञानिक, तो हमारी दृष्टि सापेक्षिक ही होती है। प्रेमचन्द को खत्री के सामने रखकर जितना हम मनोवैज्ञानिक कहेंगे उतना अज्ञेय और जैनेन्द्र तथा जेम्स जॉइस और वर्जीनिया वुल्फ़ तथा प्रुस्ट के सामने नहीं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि चेतन के पूर्ववाचिक स्तर पर हमारी भावनाएँ अपने शुद्ध निरीह और आदिम रूप में रहती हैं, वे हमारी बुद्धि की कैंची की काट-छाँट से अछूती रहती हैं। बुद्धि उन्हें सुगठित नहीं कर पाती और तर्क उन्हें व्यवस्थित नहीं कर पाता। हमारी भावनाएँ वाचिक रूप उसी समय धारण करती हैं जब व्यवस्था, परिमार्जन और संगठन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जिसे 'प्राइमरी प्रोसैसिज़' कहा गया है उसी के प्रभाव में हमारी भावनाएँ अपना व्यापार करती हैं। उससे आगे बढ़कर 'सैकंडरी प्रोसैसिज़' की सीमा में नहीं पहुँची रहतीं। अतः हम यही कह सकते हैं कि आज के युग में वही उपन्यास मनोवैज्ञानिक कहलाने का अधिकारी हो सकता है जिसमें भावनाओं के पूर्ववाचिक स्तर को अपनी वर्ण्य वस्तु का उपजीव्य बनाने की चेष्टा की गई हो। जैनेन्द्र इसमें अग्रणी हैं।

यहाँ हम अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए अंग्रेजी-साहित्य के तीन प्रमुख उपन्यासकारों को लेंगे। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी-साहित्य में ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों का ठीक तरह से अध्ययन हो सकता है। इन उपन्यासकारों के नाम ये हैं—रिचार्डसन, जेम्स जॉइस और वर्जीनिया वुल्फ। इनके उपन्यासों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी प्रथम पंक्तियों के साथ पाठक पात्र-चेतना के मध्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। अन्य उपन्यासों की तरह ऐसा नहीं लगता कि पाठक नदी के तट पर खड़ा हो। हां, नदी की धारा से होकर आनेवाली वायु की शीतलता उसे कभी-कभी स्पर्श कर लेती हो अथवा पानी के छींटे भी उन्हें कभी-कभी अभिसिंचित कर

जाते हों। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता था कि पाठक पात्रों की चेतनाधारा के सीधे सम्पर्क में आकर उसी पर प्रवाहित हो रहा है। पूर्व के उपन्यासकारों में हेनरी जेम्स और दास्तोव्स्की का नाम मनोवैज्ञानिक कथाकारों में लिया जाता है। और यह बात सही भी है कि उन्होंने मनुष्य की आन्तरिक चेतना को चित्रित करने में अपूर्व सफलता पाई है। फिर भी मानस के उस स्तर का चित्रण, जिसको उन्होंने अपने वर्णन का आधार बनाया है, उसमें और जॉयस आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथाकारों के आधारभूत मानसिक स्तर में अंतर है और वह अन्तर वाचिक और पूर्ववाचिक स्तर के रूप में ही समझा जा सकता है। एक उदाहरण लें—दास्तोव्स्की ने अपनी पुस्तक 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' में एक पात्र से कहलाया है : "It must be the top drawer," he (Raskolnikov) reflected. "So she carries the keys in a pocket on the right. All in one bunch on a steel ring......And there's one key there, three times as big as all the others, with deep notches, that can't be the key of the chest or drawers......then there must be some other chest or Strong box..... that's worth knowing. Strong boxes always have keys like that..... but how degrading it all is." "उसने मन में विचार किया—यह अवश्य ही सबसे ऊपरवाले ड्राअर में होगा। निश्चय ही वह अपनी दाहिनी तरफ की जेब में कुंजियाँ रखती है। एक इस्पात की अँगूठी में उसकी चावियों का गुच्छा बँधा रहता है...... और वहाँ पर एक ऐसी चावी है जो अन्य चावियों से तिगुनी बड़ी है। और उसमें बड़े-बड़े दाँत भी हैं। यह ड्राअर की छोटी पेटी की चावी नहीं हो सकती...... अतः कोई दूसरा मजबूत बक्स होना चाहिए। मजबूत बक्सों की चावियाँ ठीक इसी तरह की होती हैं .... परन्तु यह सब कितना निन्दनीय है!"

इस अंश पर विचार करने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि यह पात्र की सीधी-सादी उक्ति नहीं है। पात्र की उक्ति भले ही हो, परन्तु लेखक की ओर से कही जा रही है—अर्थात् पात्रों की चेतना और पाठक की चेतना के बीच में लेखक का व्यक्तित्व आ जाता है। दूसरी बात यह है कि इन पंक्तियों में आन्तरिक भावना का चित्रण भले हो, परन्तु इन भावनाओं ने वाचिक रूप धारण कर लिया है; इनमें एक संगठन है, एक संगति है। भले ही ये बोले नहीं गये हों, उच्चरित नहीं हुए हों। अर्थात् इन पंक्तियों में हम लेखक की रिपोर्ट तो पाते हैं परन्तु पात्र के मस्तिष्क में जो चेतना प्रवाहित हो रही है उससे हम सराबोर नहीं होते।

नाटक के पढ़ने वालों से यह वात छिपी नहीं होगी कि नाटकों में पात्रों की स्वगतोक्तियाँ कितने महत्त्व की होती हैं और पात्रों की मानसिक प्रक्रिया और उनकी प्रवृत्तियों को समझने में उनसे कितनी सहायता मिलती है, परन्तु फिर भी ये स्वगतोक्तियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व की तह में वर्तमान, पूर्ववाचिक धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं; उसकी विच्छिन्नता, विखराहट, अव्यवस्था का सही रूप उपस्थित नहीं करतीं। इनमें भी एक संगठन होता है, संगति होती है, तर्क होता है और जिस वक्त उक्तियाँ लिखी जाती हैं उस वक्त नाटककार के सामने श्रोतागण उपस्थित रहते हैं और नाटककार का ध्येय यह होता है कि श्रोताओं को किसी समझ में आनेवाले तथ्य का ज्ञान उपलब्ध हो। इतना ही नहीं, उसके सामने नाटक की कथावस्तु भी उपस्थित रहती है और वह चाहता है कि उस कथावस्तु के विकास में भी इन स्वगतोक्तियों से सहायता मिले। कहने का अर्थ यह कि नाटककार पर कितने वंधन रहते हैं और वे वन्धन मानो चेतना की मौलिक अव्यवस्था, उच्छिन्नता तथा क्रमहीनता, मण्डूकप्लुति के चित्रण में वाधक होते हैं।

कल्पना कीजिए कि हम एकान्त में चुपचाप वैठे हुए हैं। हम पर किसी तरह का प्रतिवन्ध नहीं है और हम अपने शुद्ध मौलिक रूप में उपस्थित होने के लिए तथा भावों को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र हैं। हमारी वातों को सुननेवाला कोई नहीं है। हम जो मन में आवे कहने के लिए स्वतंत्र हैं, जिस रूप में विचार हमारे सामने उपस्थित हों उसी रूप में ठीक-ठीक उपस्थित कर देने की परिस्थिति में हैं। उस समय हमारे भावों का जो पूर्ववाचिक रूप होगा उसी रूप को उपस्थित करना आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथाकारों का कर्तव्य है। फ्रायड ने अपने रोगियों के अचेतन मानसिक स्तर में डुवकी रहने वाली भावनाओं को, उन भावनाओं को जो प्रत्यक्ष दीख तो नहीं पड़ती हैं परन्तु वे ही मनुष्य की सारी क्रियाओं को प्रेरित कर रही हैं—को पहचानने के लिए जो मुक्त साहचर्य (Free Association) नामक पद्धति निकाली थी, उसी का साहित्यिक प्रतिरूप उपस्थित करने का वीड़ा उठाकर आधुनिक कथाकार चलता है। वह अपनी रचना से अपने को एकदम हटा लेता है। पाठक को भी नहीं रहने देता। वहाँ अगर कोई चीज रह जाती है तो केवल मनुष्य की आन्तरिक, असंगठित और अव्यवस्थित भावनाएँ ही। यह मान लेना पड़ता है कि कथा का पात्र किसी दूसरे को सुनाने के लिए अपनी वातें नहीं कहता, वह केवल अपने से वातें करता है। उसका सुननेवाला अगर कोई होगा तो वह साधारण श्रोता नहीं होगा, वह एक विशिष्ट श्रोता होगा जिसको अंग्रेजी में 'एव्स्ट्रेक्टैड

रीडर' कह सकते हैं। उसकी एक अपनी दुनिया होती है और वह दुनिया बहुत-कुछ पात्र के असंगठित और अव्यवस्थित तथा अविच्छिन्न मानस से मिलती-जुलती होती है।

नाटक में पात्र भी स्वगतोक्तियों के द्वारा अपने निजी मानस की तरलता को दिखलाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु उनके पास एक पैमाना होता है। उनके सामने कुछ चार्ट्स और डाइरेक्शंस होते हैं। कह लीजिए कि उनको भी एक खास ढंग से प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। परिणाम यह होता है कि नाटक की स्वगतोक्तियों को भी श्रोताओं की आशाओं की रक्षा करनी पड़ती है। उन्हें किसी नपीतुली व्याकरण-सम्मत रूढ़िबद्ध तथा बोधगम्य भाषा में बोलना पड़ता है। हाँ, इनके द्वारा इतनी बात अवश्य होती है कि मानस की तरलता, बिखराहट का थोड़ा आभास जरूर मिल जाता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक कथा के पात्र की स्वगतोक्ति श्रोता की परवाह नहीं करती। उसे इस बात की परवाह नहीं कि पाठक हमारी बात को समझता है या नहीं। उसे तो अपने मानस का शुद्ध रूप ही उपस्थित करना है। मानस के शुद्ध रूप को उपस्थित करना है, इसका भी उसे ज्ञान नहीं।

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित होगा वह साधारण कथाओं के रूप से भिन्न होगा और वह अपने पाठकों से, यदि वह पाठक साधारण पाठक हुआ, जैसे पाठक प्राय: हुआ करते हैं—एक भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा करेगा। वह चाहेगा कि पाठक अपने को थोड़ा बदले, अपनी पुरानी आदतों को छोड़े। इसको हम अंग्रेज़ी के शब्दों में यों कह सकते हैं : Psychological novels are nct to be read but to be re-read. मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक मात्र पाठक ही नहीं रह जाता, वह कुछ अंश में स्रष्टा भी बन जाता है। उपन्यास अपने अन्तिम रूप में जिस साज-सज्जा से उपस्थित होता है उसके निर्माण में पाठक का भी बहुत हाथ रहता है। एक साधारण-सी बात है जिसे स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। 'आफलोदयकर्मा' होने के लिए किसी भी उपन्यास को दो अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है : पहली अवस्था है सृजक-निष्ठ और द्वितीय अवस्था है पाठक-निष्ठ। उपन्यास के मूलभूत अंकुर से लेकर उसके छपकर प्रकाशित हो जाने की अवस्था तक सृजकनिष्ठ अवस्था कह सकते हैं, क्योंकि तब तक उसका पूरा नियंत्रण उपन्यासकार के हाथ में रहता है। बाद में वह अवस्था आती है, जब पाठक उसे पढ़ता है और वह कृति पाठक के मस्तिष्क में कोई रूप धारण करती है। द्वितीय अवस्था में

उसके पीछे छिपा रहता है। यहाँ तक कि उसके अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं होता। अतः लेखक का रंगमंच से हट जाना मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रथम शर्त है।

दूसरी बात जो सामने आती है वह दो मस्तिष्कों का सम्मेलन या कह लीजिए दो मानसिक वातावरणों का पारस्परिक आदान-प्रदान है। यह भूलना नहीं चाहिए कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्ति नहीं रहता, विशुद्ध मानसिक वातावरण ही रहता है। वह भी अपने विशुद्ध, प्राकृत और अपरिमार्जित रूप में; और इसी मानसिक वातावरण का सम्मेलन पाठक के मानसिक वातावरण से होता है। पुराने उपन्यासों के पाठकों के सामने इस स्वतः सम्मेलन का प्रश्न नहीं होता था। कथाकार अपनी ओर से एक कथा कहता चलता था अथवा पाठक के गले के नीचे उतारता चलता था और पाठक भी ज्यों-त्यों लेखक की गवाही पर उसे ग्रहण करता चलता था। परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथा तो रहती नहीं। कम-से-कम उस दृढ़ रूप में जिस दृढ़ रूप में पुराने उपन्यासों में वर्तमान रहती थी। अब तो उपन्यासों में केवल मानसिक वातावरण ही रहता है जो किसी पात्र के आधार पर अपना रूप प्रकट करता है। पुराने उपन्यासों में भी पाठक उपन्यास के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता था और उसी के द्वारा वह अपने उपन्यास से सम्बद्ध हो जाता था। राम और रावण को लेकर लिखे गये उपन्यास में वह राम का साथ देगा, रावण का नहीं। परन्तु आज के उपन्यास में राम-रावण का प्रश्न ही नहीं उठता।

पाठक को आज भी पात्र के साथ तादात्म्य करना ही पड़ता है। परन्तु इस तादात्म्य का रूप दूसरा होता है। पहले तादात्म्य चेतना के स्तर पर होता था—उस स्तर का जो मस्तिष्क का सबसे बाहरी स्तर होता है, परन्तु भावनाएँ अधिक गहराई में उत्पन्न होती हैं। अतः इस स्तर पर जो तादात्म्य होगा उस तादात्म्य में अधिक गहराई होगी। फलतः उसका रसास्वादन भी दूसरी तरह का होगा। यदि कथाकार अपने पाठक और पात्र में यह भावात्मक तादात्म्य करा सका तो यह संभव हो सकेगा कि वह पाठक उसी संवेदना से प्रभावित हो जो संवेदना सुनीता या हरिप्रसन्न को प्रभावित कर रही थी। भुवन की कुहनी में जो चुनचुनाहट हो रही थी, वह उसकी अपनी ही चुन-चुनाहट जान पड़े, वह उन्हीं ध्वनियों को सुन सके जिसे जेम्स जॉयस के डबलिन में लिओपाल्ड ब्लूम सुन रहा था, अथवा वर्जीनिया वुल्फ़ की मिसेज़ डैलोवे जिस बिगबेन घड़ी की ध्वनि सुन रही थी वही उसको सुनाई पड़े।

अमेरिका के प्रसिद्ध उपन्यासकार फाकनेर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'साउंड एण्ड फरी' में एक अर्द्ध-विकसित, नीम-पागल वैंजी नामक व्यक्ति के दृष्टि-कोण को उपस्थित किया है। यह व्यक्ति है तो ३० वर्ष का, परन्तु इसके मानस का विकास ३ वर्ष के व्यक्ति के जितना ही है। एक प्रौढ़ पाठक को वैंजी जैसे व्यक्ति के मानसिक स्तर पर आना कठिन है, परन्तु तो भी उसकी भावनाओं, उसके प्रवाह, उसकी मानसिक गति के लय तथा स्वच्छंदता के साथ पूरी सहानुभूति के भाव पाठक में उत्पन्न होते हैं और यही मुख्य वात भी है; क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऊपरी मानसिक स्तर के तादात्म्य का कोई महत्त्व नहीं होता। भावों का, भावनाओं का तादात्म्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है जो हो ही जाता है। इस उपन्यास के पाठक के मानस को दो स्तरों पर सक्रिय होना पड़ता है: प्रथमत, वैंजी के वाल्योचित मानसिक स्तर की तरलता, स्वच्छं-दता, सर्वसमर्थता का परिचय प्राप्त होता है—वह इसके सीधे सम्पर्क में आता है। द्वितीयतः, उसके अपने वौद्धिक स्तर को भी सक्रिय होना पड़ता है, ताकि वह वैंजी के अर्द्ध-विकसित मानस के तरल प्रवाह को कोई सार्थक रूप दे सके, उसमें कोई अर्थवत्ता का सूत्र ढूंढ़ सके। अतः इस उपन्यास का निर्माण दो कहानियों के द्वारा हो रहा है। पहली कहानी वह है जो वैंजी के अर्द्ध-विकसित मानस की स्वच्छन्दता के द्वारा कही जा रही है, और दूसरी कहानी वह है जो इन उलझे सूत्रों के आधार पर पाठक का विकसित मानस अनुमान-पद्धति के सहारे निकालती चलती है। इसी अर्थ में कहा गया है कि मनोवैज्ञा-निक उपन्यास का पाठक, पाठक मात्र ही नहीं रहता, वह एक तरह का स्रष्टा भी होता है। उपन्यास के निर्माण में उसका भी अनुदान कम नहीं होता। जैनेन्द्र के उपन्यासों का निर्माण उपन्यासकार के द्वारा तो होता ही है, पर उसकी पूर्णता पाठक के सक्रिय सहयोग के विना नहीं होती।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास के सम्पर्क में आते ही पाठक के हृदय में ऐसी भावना होने लगती है कि उसे किसी घटना, कहानी या पात्र का परिचय नहीं प्राप्त हो रहा है वल्कि उसका सीधा सम्वन्ध पात्रों की मानसिक तरल धारा के साथ हो रहा है। वह सीधे एकाएक मानसिक लहरों पर प्रवाहित होने लगता है। उसकी पुस्तक समाप्त करने पर उसके हृदय में यह संस्कार उपस्थित होता है कि वह एक अथवा अनेक पात्रों के आन्तरिक जगत् के संगीत का रसास्वादन कर सका है और इस रसास्वादन की अपील उसके वाहरी कानों की ओर न होकर आन्तरिक कानों की ओर हुई है। प्रायः मनुष्य अपने दैनिक जीवन में अपनी ही चेतना से आवद्ध रहता है। उसको इतनी फुरसत नहीं रहती कि वह

अपनी चेतना की सीमा से वाहर आकर दूसरे की चेतना की भी झाँकी ले सके। वाहरी दुनिया की ओर देख लेना तो फिर भी संभव है, उसे देखने के लिए किसी विशेष जागरूकता की आवश्यकता नहीं होती, वाहरी दुनिया के व्यापार की उपमा वादलों की गड़गड़ाहट अथवा विजली की कड़क से की जा सकती है जिसको हमें इच्छा न रहते हुए भी सुनना ही पड़ता है, वज्र-वधिर व्यक्ति को भी वादलों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ ही जाती है।

पर आन्तरिक जगत् के संगीत की ध्वनि है जिसके सुनने के लिए अधिक जागरूकता और मानसिक संस्कार की आवश्यकता पड़ती है। असंस्कृत मानस अथवा अशिक्षित कानों को संगीत की ध्वनि नहीं भी सुनाई पड़ सकती है। हमारे मनोवैज्ञानिक कथाकार पात्रों की आन्तरिक अनुभूतियों के साक्षात् और सीधे सम्पर्क में लाने की प्रतिज्ञा लेकर चलते हैं और इस तरह से उन्होंने कथा-साहित्य को एक नया आयाम प्रदान किया है। यों तो प्रत्येक साहित्यिक रचना का उद्देश्य पाठक में व्यापकत्व की अनुभूति जागृत करना है, उसके अनुभव को समृद्ध करना है। पुराने उपन्यास अपना कार्य नहीं करते थे सो वात नहीं, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास जिस ढंग से हमारी अनुभूतियों को समृद्ध करते हैं, उनमें व्यापकत्व लाते हैं अथवा जिस दिशा की ओर वे हमारी अनुभूतियों को मोड़ते हैं उसमें एक विचित्रता है, एक नूतनता है और एक स्फूर्ति है। पुराने उपन्यासों में पाठक लेखक से यही कहता था "मुझे एक कहानी चाहिए जो मुझे अपने में तल्लीन कर ले, दुनिया से काटकर अपने में चिपका ले। यहाँ तक कि भूख और प्यास को भी हमारे पास न फटकने दे।"

परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पहल लेखक की ओर से होती है। लेखक पाठक से कहता है, "देखो ! मैंने यहाँ पर विचारों के प्रवहमान रूप का, चेतना के प्रकृत और शुद्ध रूप का कलात्मक चित्रण उपस्थित किया है। इसे ध्यान-पूर्वक पढ़ो, तुम्हें इसमें एक विचित्र लोक का दर्शन होगा। जहाँ तक कथा का सम्वन्ध है, वह मेरे द्वारा नहीं, तुम्हारे द्वारा गढ़ी जायेगी। मैंने तुम्हारे पास सामग्री रख दी है अपने शुद्ध रूप में। अब तुम्हारा काम है कि कौड़ी-कौड़ी माया वटोरो अथवा एक-एक कंकड़ी चुनकर महल खड़ा करो।" कहने का अर्थ है कि पूर्व के उपन्यास में देखने से तो यही मालूम पड़ता है कि वहाँ पर लेखक अपने उपन्यास को जिस तरह से चाहे तोड़ता-मरोड़ता है परन्तु दूसरी दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होगा कि इस कथन में कितना खोखलापन है। वह ऊपर से समझता तो ऐसा ही था और इससे उसके अहं की थोड़ी तृप्ति भी हो जाती थी। परन्तु वास्तव में उसका ध्यान पाठक की ओर लगा रहता था और वह ध्यान

रखता था कि ऐसी कोई बात न कही जाय जो पाठक को पसन्द न हो; अर्थात् पाठक ही प्रमुख था और लेखक एक तरह से उसको मिजाजपुर्सी का यंत्र-मात्र। परन्तु अब परिस्थिति बदल गयी है। अब पहल लेखक के हाथ में आ गया है। वह पाठक के मनोरंजन की परवा नहीं करेगा। नहीं वह स्वयं अपनी सामग्री पर विचार करेगा। विचार करेगा कि दी हुई सामग्री कहाँ तक लाभकारी है और उसके गुणों को ध्यान में रखकर ही पाठक-रूपी रोगी को देने की चेष्टा करेगा। वह पाठक की आन्तरिक शक्ति को कुन्द नहीं करेगा बल्कि उसे जागृत करना ही उसका उद्देश्य होगा।

ऊपर हमने चर्चा की है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास मात्र पढ़ने के लिए नहीं, अपितु पुनर्पठन के लिए है तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पाठक मात्र पाठक ही नहीं—ऐसा पाठक जिसके रिक्त मस्तिष्क में लेखक की ओर से बातें ढाली जा रही हों—परन्तु वह स्वयं उपन्यासकार होता है और कथा के निर्माण में सक्रिय योग देनेवाला। वह कवि ही क्या जिसने पाठक को भी कवि नहीं बनाया और वह कथाकार ही क्या जिसने अपने पाठक को भी कथाकार नहीं बना दिया। मनोवैज्ञानिक कथा के पाठक को इस तरह की अनुभूति होती है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के एक आलोचक ने अपनी अनुभूतियों का वर्णन किया है जिसका परिचय बहुत-कुछ उन्हीं के सहारे पाठकों के लाभार्थ यहाँ पर दे रहा हूँ।

डोरोथी रिचार्डसन का एक उपन्यास है 'पिल्ग्रिमेज'। यह उपन्यास १२ जिल्दों में समाप्त होता है। इसकी पहली जिल्द 'पॉइन्टेड रूफ' में मरियम हेंडरसन नामक महिला एक जर्मन बोर्डिंग स्कूल में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा देने के लिए जाती है। इसी की भावनात्मक साहसिकता की कथा इसमें दी गयी है। आज से दो शतक पहले जब लिओन एडले महोदय इस पुस्तक को पढ़ने बैठे तो उन्हें निराशा ही हाथ लगी। विशेषतः इस महिला के मानसिक जाड्य और मान्द्य ने तो एक पग भी उन्हें बढ़ने नहीं दिया। दो शतकों के बाद पुनः वे इस पुस्तक को पढ़ने बैठे तो भी परिस्थिति में सुधार होता नजर नहीं आया। मुख्य कठिनाई यह है कि पाठक यह धारणा बाँधकर चलता है कि मरियम गंभीर, बुजुर्ग तथा कोई भारी-भरकम, दृढ़-विचार-सम्पन्न महिला-सी लगती है। पर जब हम उसमें मानसिक चांचल्य देखते हैं, जब हम देखते हैं कि उसके चित्त का ठिकाना नहीं, कभी भी किसी तरह का मूड धारण कर सकती है तो ये असंगतियाँ पाठक को विचित्र मालूम पड़ती हैं। परन्तु पुस्तक में सौ पृष्ठों के बाद एक वाक्य मिलता है "She could do nothing even

with these girls, and she was nearly eighteen" अर्थात्, "वह इन बालिकाओं के साथ कुछ भी नहीं कर सकती थी, और इस समय वह १८ वर्ष की ही थी।"

आलोचक का कहना है कि इस पंक्ति को पढ़ते ही उसकी सारी मानसिक परिस्थिति वदल गयी और उसको एक ऐसा दृढ़ आधार मिल गया कि वह उपन्यास में वर्णित वातों को एक संगत रूप में देख सके। अभी तक वह उपन्यास को एक केन्द्रविहीन दृष्टि से देख रहा था, उसे देखने के लिए केन्द्र विन्दु नहीं मिल रहा था। अतः चित्र स्पष्ट रूप से उसके सामने नहीं आता था। अव फोकस के लिए एक आधार मिल जाने पर चित्र स्पष्ट होकर सामने आने लगा। लेकिन अव तक भी पूरी स्पष्टता नहीं आयी थी। पाठक के रूप में अपनी अनुभूतियों को टटोलते हुए वह पाठक उस दृश्य को पहचान सका जहाँ पर आते ही मृत कागज और उसके काले अक्षरों ने मानो किसी मंत्र से जीवित रूप धारण कर लिया। और अव तक जिस चीज को वह केवल वुद्धि के सहारे पकड़ने का प्रयत्न कर रहा था वह उसके भावात्मक जीवन का अंग वन गई। वह दृश्य यह है: मरियम अपनी आलोचित स्फूर्ति और उल्लास के साथ संगीत गाती हुई अपनी धुन में मस्त स्कूल में प्रवेश करती है। तव तक सामने वीर-गंभीर और वुजुर्ग पास्टर लाहमेन आ जाते हैं, "तुम तो वहुत प्रसन्न दिखलायी पड़ती हो। क्यों क्या वात है?" मरियम असमंजस में पड़ जाती है और कहती है, "नहीं तो।" पास्टर लाहमेन और भी वहुत-सी वातें करता है, कहता है कि मुझे अंग्रेजी का एक पद्य वहुत प्रिय है:

"A Little land, well-tilled
A Little wife well-willed
And great niches."

मरियम का हृदय सुखद स्वप्नों से भर जाता है, परन्तु फिर भी वह वहाँ से हटना ही पसन्द करती है। परन्तु तव तक Pastor अपने वार्तालाप का विषय वदल देता है।

"तुम चश्मा क्यों लगाती हो भला?" उसकी वाणी सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना से ओतप्रोत थी।

"मुझे आँखों का कष्ट है जिसे Myopic astigmatism कहते हैं।"

"मेरी प्यारी, मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम्हें चश्मे की कोई खास आवश्यकता नहीं···क्या मैं इन्हें देख सकता हूँ···मैं आँखों के वारे में कुछ जानता हूं।" मरियम ने अपने चश्मे को निकालकर दे दिया और देते समय उसके हाथों

के प्रकम्पन में एक संगीत था। वह उत्सुकता के साथ देखने लगी। चश्मे को उतारने के साथ ही उसके देखने की आधी शक्ति कम हो गयी थी और एक धुँधली आकृति दिखलाई पड़ रही थी जो शायद उसको सहायता देने के लिए अग्रसर थी।

"तुम सदा इसे पहनती हो ? कितने दिनों से ?"

"प्यारी लड़की, स्कूल के दिनों में तुम्हें सदा इन्हीं लँगड़ी आँखों से काम लेना पड़ा होगा……"

"जरा अपनी आँखें देखने दो। थोड़ा-सा प्रकाश की ओर मुड़ो।" समीप खड़ा होकर वह उसकी अस्पष्ट दृष्टि को देखने लगा।

"और ये आँखें प्रकाश को नहीं सह सकतीं।"

"प्यारी लड़की, तुम लड़कपन में बहुत सुन्दर थीं, आज से भी अधिक।"

तब तक रुलियन पफ्फास की आवाज मोटे दरवाजे की ओर से आई। पास्टर पीछे हट गये।

अब सारी पुस्तक उनके सामने जीवित रूप में उपस्थित हो गई। इसका कारण यह नहीं कि एक नाटकीय दृश्य उपस्थित हो गया था और एक किशोरी और बुजुर्ग पादरी के बीच वार्तालाप का प्रसंग आ गया था। परन्तु इसलिए कि हो-न-हो, किसी ऐन्द्रजालिक प्रक्रिया के द्वारा एक भावना किताबों के पृष्ठों से छनकर सामने आ गई थी और पाठक के हृदय में भी स्थान बना चुकी थी। पाठक का कहना है कि वह अब मरियम को, उसके स्कूल की कक्षा को अच्छी तरह देख सकता था। वह उसके दृष्टि-दोष के लिए तथा आदमियों के साथ मिलने में झिझक को अच्छी तरह समझ सकता था ? अब पुस्तक उसके लिए अनाकर्षक न रह गयी।

यह परिवर्तन किस तरह से संभव हुआ ? क्या कारण है कि वह पुस्तक जो पहले नीरस मालूम पड़ती थी अब आकर्षक मालूम पड़ने लगी ? इसे लेखक के शब्दों में सुनिये—"What had happened ? It was important to understand. And as I searched the memory of my own reading it, seemed to me that I had somehow begun by struggling against Dorothy Richardson : she had wanted one to enter into the mind of a young adoleocent—and I had not been able to do this. I could not adopt the one 'point of view' she offered me, an angle of vision that required more identification than I—as indeed many of her male readers—could achieve. The episode with Pastor Lahman, however, had offered me the kay. And as I studied

it closely I saw that what had happened here was that through Miriam Henderson's angle of the vision of the Pastor I had finally entered the book. She had made me aware of him, and it was with him I could identify myself so that while we see him only as Miriam sees him, it became suddenly possible for me, the male reader, to feel myself standing in front of this blonde English girl and inquiring into her near—sightedness. The alchemy of this was that—as Proust observed" since it is in ourselves they are happening--"

इस उदाहरण का सारतत्त्व यही है कि एक बार जहाँ मरियम हेंडरसन के दृष्टिकोण तथा उसकी सम्वेदनाओं के साथ हमारे अन्दर सहानुभूति उत्पन्न हुई कि सारी परिस्थिति में परिवर्तन हो गया। ऐसा हो गया कि सारी वातें हमारे अन्दर ही घट रही हों और सारा वातावरण हमारे सामने सजीव हो उठा। आगे चल कर इस आलोचक ने इस उपन्यास के सम्वन्ध में और लोगों की निजी अनुभूतियों की जाँच करने के लिए उसने ऐसे वहुत लोगों से सम्पर्क किया जिनमें पुरुष और स्त्री दोनों थे। और उसने यही निष्कर्ष निकाला कि इस तरह के उपन्यासों में लेखक को तभी सफलता मिल सकती है जव वह पाठक को पुस्तक में वर्णित चेतना के साथ सम्पूर्ण रूप से तादात्म्य करा सके। और यह तभी संभव होगा जवकि उपन्यास के कुछ आधारभूत कथा-स्थलों का पता चल जाय जिन पर पैर रखकर इधर-उधर दृष्टि डाली जा सके। मनुष्य में अनुसन्धान करने की, कुछ खोज निकालने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के सन्तोष से उपन्यास-जन्य आनन्द में एक विशेष समृद्धि का पुट आ जाता है। पाठकों में ऐसी दो कवयित्रियाँ भी मिलीं जो इस उपन्यास को प्रथम वार में वास्तविक अर्थ में पढ़ सकीं। इन्हें पुनः पढ़ना नहीं पड़ा जैसा कि अन्य पाठकों के साथ हुआ था। इसका कारण यही है कवि की प्रतिभा में ऐसी क्षमता होती है कि वह अंश में भी पूर्ण का प्रतिविंव देख सकती है; उसके लिए समग्रता को दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह प्रत्येक वस्तु को समग्रता में ही देख लेती है। उसके लिए किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता नहीं होती; जो कुछ मिलना है वही उसके लिए आधार वन जाता है।

ऊपर कहा गया है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार का उद्देश्य चेतना के शुद्ध मौलिक तथा अनगढ़े स्वरूप को उपस्थित करना होता है। परन्तु एक दिन, एक घंटा, या एक मिनट के अन्दर जो चेतना-प्रवाह वह जाता है उसे भी सम्पूर्ण रूप में दिखलाना संभव नहीं। साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रश्न आते ही

काट-छांट, निर्वाचन-निष्कासन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि अभिव्यक्ति सदा सक्रिय होती है। जेम्स जॉयस ने, कहा जाता है कि, पात्र के चौवीस घंटे के जीवन के चेतना-प्रवाह को चित्रित किया है, विचारों और संवेदनाओं की अवर्गीकृत आढ्यता (Unclassified abundance) को उपस्थित कर दिया है, कागज पर कलेजे (यहाँ मानस-प्रवाह) को निकालकर रख दिया है। पर ध्यान से देखने से पता चलेगा कि युलिसिस की रचना में पर्याप्त सतर्कता, संगठन एवं निर्वाचन से काम लिया गया है। वात इतनी-सी है कि यहाँ पर सारी प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि पाठक के हृदय में यह आभासित हो कि वहाँ निर्वाचन से काम नहीं लिया गया है, सव चीज़ें हूवहू उठाकर रख दी गयी हैं। पूर्व के उपन्यासों का उद्देश्य वर्ण्य विपय के प्रति पाठकों के हृदय में Willing suspension of disbelief की स्थिति उत्पन्न कर देना था, ऐसी व्यवस्था कर देनी थी कि पाठक के हृदय में अविश्वास के प्रस्ताव न उठ सकें। आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार भी यही कर रहा है। इतना ही अन्तर है कि प्रथम का ध्येय स्थूल या वाहरी जगत् के प्रति अविश्वास नहीं उठने देने का था, आज के कथाकार का उद्देश्य चेतना-प्रवाह के प्रति नहीं उठने देने का है।

कथा के मौलिक सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं। जव मैं विद्यार्थी था तो प्रश्न-पत्र में अंग्रेजी का कोई उद्धरण देकर कहा जाता था कि Write in your own words. अर्थात् इसे पुनः अपने शब्दों में लिखो। जीवन ही मानो अंग्रेज़ी में दिया हुआ उद्धरण है जिसे कथाकार 'अपने शब्दों में लिखता है।' परन्तु 'उद्धरण' तो कहीं से उठाकर दिया जा सकता है, इसके लिए ऐसा कोई प्रतिवन्ध नहीं है कि उद्धरण किसी एक ही प्रकार की पुस्तक से लिया जाय। यहीं पर आकर पुराने कथाकार और मनोवैज्ञानिक कथाकार में अन्तर हो जाता है। पुराने कथाकार जीवन के जिस स्थल से उद्धरण लेकर अपने शब्दों में लिखते थे, अव का मनोवैज्ञानिक कथाकार उन स्थलों को नहीं छूता। वह अपनी सामग्री जीवन की आन्तरिक गहराई से चयन करता है—वह गहराई, जहाँ पर सारी चीज़ें अस्त-व्यस्त रहती हैं—उनमें कोई संगठन या स्वरूप की दृढ़ता नहीं होती। 'स्वरूप की दृढ़ता नहीं होती', यह मैंने अपनी ओर से कहा है। यों तो उनमें भी एक संगठन और संगति होती ही है। परन्तु वह इस रूप में होता है कि उसको सवके लिए देख लेना संभव नहीं होता। अतः प्राचीन कथाकार, जैसे दास्तोव्स्की और वालज़ाक, जव यह कहते थे कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि कथाकार पात्रों के विचारों को ठीक तरह से समझे-वूझे और उन्हें हज्म करे, और तव उनकी संवेदनाओं को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न

करे, तव उससे किसी को मतभेद नहीं था।

कोई इस वात से असहमत नहीं हो सकता था कि किसी भी कथाकार का कर्तव्य यही है। परन्तु ये कथाकार यह नहीं समझते थे कि यह सिद्धान्त जिस तरह वाह्य जगत् और वहाँ के क्रियाकलापों के लिए लागू होता है उसी तरह वह मनुष्य की आन्तरिक चेतना के चित्रण के लिए भी लागू हो सकता है। वे, यह नहीं समझ पाते थे कि जिस तरह वालज़ाक अपने वर्णन-कौशल के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे सकता है कि पाठक के मन में यह धारणा वँध जाय कि वह ताज महल में वैठा है, मानो वह उसके सामने साकार रूप में उपस्थित है, उसी तरह कथाकार की कुशलता और उसकी सामग्री का चयन यह भी दृश्य उपस्थित कर सकता है कि पाठक स्वयं पात्रों के मानसिक जगत् में उपस्थित हो जाए, वहाँ के सारे दृश्य अपनी सारी तरलता और ऊवड़-खावड़ता के साथ उपस्थित हो जाएँ। सारा मानसिक और आन्तरिक जीवन पाठक के लिए जीवित रूप धारण कर ले।

एक वात और है, जो हमारे पूर्व के कथाकार प्रायः नहीं समझ पा रहे थे। कल्पना कीजिये कि उन्हें किसी चीज़ का वर्णन करना है। उदाहरणार्थ किसी भवन का। उनके सामने एक यही उपाय था कि वहाँ की स्थिति में जितने भौतिक पदार्थ हैं, उन सव कुर्सी-मेज़ इत्यादि का अधिक से अधिक वर्णन किया जाय। वे समझते थे कि इन वस्तुओं के वर्णन से ही उस भवन की वास्तविकता को समझने में पाठक को सहायता मिलेगी। जेम्स जॉयस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युलिसिस' में डेडालस नामक पात्र के घर एक वड़े दिन के प्रीति-भोज (Christmas dinner) का वर्णन किया है। वालज़ाक जैसे वस्तुवादी कलाकार के हाथों में यह घटना होती तो वे वहाँ पर वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर देते, वहाँ के एक-एक उपस्कर-सामग्री का वे वर्णन करते, खाद्य-पदार्थों में एक-एक का नाम गिनाते, निमंत्रित व्यक्तियों की वेशभूषा का, उनकी आकृति का, उनकी भावभंगियों का, उनके उठने-वैठने के ढंग का विस्तृत व्यौरा उपस्थित करते। परन्तु जॉयस ऐसा न कर के, उस दृश्य के चित्रण का सारा भार एक वालक तथा कुछ वृद्ध व्यक्तियों के मत्थे डालकर स्वयं अलग हो गये हैं। हम उस प्रीति-भोज के वाह्य भौतिक रूप को नहीं देखते। अव हम देखते हैं उस प्रवाह को, उस उफान को, जो कुछ व्यक्तियों के मानस में उपस्थित होती हैं।

आपने देखा होगा कि किसी पानी के गिलास में फ्रूट-साल्ट की थोड़ी-सी वुकनी डालते ही किस तरह की आँधी उठ खड़ी होती है, प्रवुद्वुदन होने

जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

लेखक :

डॉ० देवराज उपाध्याय

प्रकाशक :

पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली

लगता है—मानो पानी का स्वरूप छिप जाता है। मनोवैज्ञानिक कथाकार इसी आँधी के स्वरूप की उपस्थिति में अपना लक्ष्य बनायेगा, कोई वस्तु रहेगी भी तो मानो बगूले पर नाचते हुए तिनके की तरह। पहले के उपन्यासकार भी मानव के आत्मनिष्ठ जीवन, जिसे हमने चेतना कहा है, के चित्रण का ध्यान रखते थे। परन्तु उनका खयाल था कि इसकी रिपोर्ट ही, लेखक द्वारा, दी जा सकती है, लेखक उनके बारे में कह-सुन सकता है पर उन्हें उठाकर उपन्यास के आल-वाल में बैठाया नहीं जा सकता। पौधा एक स्थान पर उगा हुआ है, हम उसे बड़े मजे में वहाँ से उठाकर दूसरे स्थान पर लगा सकते हैं। पर यह कला मनुष्य को बहुत प्रारम्भ में नहीं मालूम होगी। बाद में निरीक्षण-शक्ति के विकास के साथ वह इस परस्थानारोपण कला का ज्ञान प्राप्त कर सका होगा। इस चेतना के कथा-स्थलारोपण की इस कला का ज्ञान मनोवैज्ञानिक कथाओं से ही प्रारम्भ होता है। कुछ अंग्रेजी के शब्दों के सहारे इसी बात को कहने में सुविधा होगी : They agreed that subjective state could be reported but not rendered in novel. अर्थात् "आत्मनिष्ठ स्थितियों की रिपोर्ट तो दी जा सकती है, पर उन्हें उपन्यासों में render नहीं किया जा सकता।" उनको इस रूप में चित्रित नहीं किया जा सकता, कि चित्र स्वयं बोल उठे। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की आत्मनिष्ठता स्वयं बोलती हुई होती है।

ऊपर की बातों का अर्थ यह नहीं कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णन की कमी रहती है। इस साहित्य में ऊपर से छोटी और नगण्य-सी दीखनेवाली बातों की जितनी विस्तृति की गयी है, उन बातों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता की कमी है। उदाहरण के लिए आप मिस डोरोथी रिचर्डसन की प्रसिद्ध पुस्तक 'पिल्ग्रिमेज' को लीजिये। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह पुस्तक बारह जिल्दों में विभक्त है, परन्तु आठवीं जिल्द के पास पहुँचने तक इस उपन्यास की पात्रा मरियम हैण्डर्सन की जीवनी के बारे में कोई विशेष प्रगतिशील बातें नहीं मिलतीं। उसके जीवन के दृढ़ तथ्यों तथा घटनाओं का जहाँ तक सवाल है हम उतनी ही बातें जानते हैं जिनकी जानकारी हमें प्रथम जिल्द में प्राप्त हुई थी। बातें इतनी धीरे-धीरे और टुकड़े-टुकड़े करके हमारे सामने उपस्थित की गयी हैं। चालीस पृष्ठों को पढ़ने के बाद आपको पता चलेगा कि उपन्यास की नायिका का नाम मरियम हैण्डर्सन है और करीब-करीब सौ पृष्ठों के पारायण के पश्चात् आपके ज्ञान में मात्र इतनी-सी वृद्धि होगी कि उसकी अवस्था १७ वर्ष की है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उपन्यास, उपन्यास के रूप में निष्क्रिय रहा है।

आपको मरियम की जीवनी की कहानी भले ही नहीं मालूम पड़े, परन्तु उसकी सम्वेदनाओं, भावनाओं, मनोवृत्तियों तथा उसके आन्तरिक जीवन-प्रवाह की तरलता से आप अपने को सरावोर पायेंगे और ऐसा लगेगा कि आपने मनुष्य के अन्तर्लोक की यात्रा की है।

इन पंक्तियों में कला के जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत किया जा रहा है उसका उदाहरण जैनेन्द्र के उपन्यास 'जयवर्धन' से प्राप्त हो जायेगा। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं 'जयवर्धन', 'इला', 'आचार्य' और 'चिदानन्द'। विलवर हूस्टन ने तो डायरी ही लिखी है और उनकी डायरी ही उपन्यास के रूप में उपस्थित है; पर उपन्यास की सारी कथा इन तीन पात्रों की परिधि में चक्कर काट रही है। अतः पाठक के हृदय में अदम्य कौतूहल है कि आखिरकार इन पात्रों में क्या सम्वन्ध है, ये पारस्परिक सम्पर्क में किन परिस्थितियों में आये, किन वातों को लेकर मतभेद उपस्थित हुआ, चिदानन्द महाराज जयवर्धन से इतने प्रक्षुब्ध क्यों हैं ? पर पाठक पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़ता चला जाता है, उपन्यास की ओर से इस जानकारी के लिए कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिलता। उपन्यास के ९३वें पृष्ठ पर १० मार्च की डायरी में वार्तालाप के सिलसिले में इला के मुख से ये शब्द मानो अनायास निस्सृत होते हैं— "पुरानी वात है। जय को जानने के पहले से जानती हूँ। जय मुझे उन्हीं के यहाँ मिले थे।" आगे की पंक्तियों में विलवर कहते हैं—"यह मेरे लिए नया था। इस तरह की सूचना अव से पहले कहीं मेरे देखने में नहीं आई थी। मैंने जानना चाहा कि क्या परिस्थितियाँ थीं कि जय वहाँ मिले और—" तो मानो वे उपन्यास के पाठक का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। सचमुच पाठक के हृदय में भी इसी तरह की जानकारी प्राप्त करने की व्याकुलता है, इसके वाद मानो पाठक के प्रवोध के लिए कुछ पंक्तियाँ कही जाती हैं। इला वोली, "उन्हीं से पूछियेगा। वहुत छुटपन में मेरी माँ का देहान्त हो गया था और वापू अपनी सार्वजनिक व्यस्तताओं में परेशान थे। इससे शिक्षाभ्यास के लिए मुझे वहाँ भेजा।"

इन पंक्तियों के पढ़ते ही पाठक का हृदय उद्भासित हो जाता है और उपन्यास के सारे रहस्यमय स्थलों को देख पा सकने की आशा वँधती है। इस तरह की पद्धति, अर्थात् थोड़ी-थोड़ी किस्तों में वह भी धैर्य की कड़ी परीक्षा लेकर देने की मनोवैज्ञानिक पद्धति से ही 'जयवर्धन' उपन्यास का स्वरूप-विधान हुआ है। 'कल्याणी' तथा 'जयवर्धन' में जैनेन्द्र ने इस पद्धति से विशेष काम लिया है।

इन्द्रमोहन की जरा-सी झलक जयवर्धन उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में ही

मिल जाती है। पुस्तक के अन्त तक आते-आते जयवर्धन के साथ उसके सम्बन्ध का भी थोड़ा ज्ञान हो जाता है पर फिर भी बहुत-कुछ जानने को रह जाता है और पाठक की कल्पना जग-जग कर इन लुप्त कड़ियों को जोड़ने में निरत रहती है। इसी से कहा है कि जैनेन्द्र स्वयं तो उपन्यासकार हैं ही, पाठकों को भी उपन्यासकार बनाते हैं। पाठकों के मनोविज्ञान की ओर से देखने पर जैनेन्द्र की सफलता का यही रहस्य है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अपने स्वरूप के प्रकाशन के लिए बहुत-सी पद्धतियों का आविष्कार हुआ है जिनमें चेतना-प्रवाह नामक पद्धति सबसे प्रसिद्ध है। व्यापक रूप में मनोवैज्ञानिक लेखकों ने उपन्यास-कला को एक बात दी है। उन्होंने उपन्यास के लिए जीवन के एक नये क्षेत्र का उद्‌घाटन किया है। आज तक के उपन्यासों ने प्रेरणा और क्रिया के क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखा था। अब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के चलते मानसिक प्रक्रिया और मानसिक सत्ता का विवरण भी उनकी सीमा में आ गया है। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य की आन्तरिक अनुभूतियों की केन्द्र भूमि में उपन्यास को प्रतिष्ठित कर उसके स्वरूप को खड़ा किया जा सकता है। भले ही आज तक उपन्यासों ने इस ओर अपनी शक्ति की परीक्षा न की हो। उन्होंने यह बात भी प्रमाणित कर दी है कि मनुष्य की मानसिक चेतना इतनी सीधी-सादी नहीं है कि उसे दो-चार शब्दों के माध्यम द्वारा समझा दिया जाये। नहीं, वह बहुत ही जटिल है और उसे समझने के लिए अधिक जागरूकता की आवश्यकता है।

अब हम संक्षेप में विचार कर लेना चाहते हैं कि मनोविज्ञान के प्रवेश ने उपन्यास के बहिरंग स्वरूप-विधान तथा बाह्य आकृति में क्या विशेषताएँ उत्पन्न कीं। जिन विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है वे उपलक्षण-मात्र हैं। वे इन्हीं तक सीमित नहीं हैं—ध्यान से देखने पर और भी बहुत-सी विशेषताएँ लक्ष्य की जा सकती हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का लक्ष्य अनुभूति-मात्र का चित्रण नहीं, वरन् अनुभूति के आत्मनिष्ठ अथवा विषयीगत स्वरूप (Subjective aspect of experience) की अभिव्यक्ति है अतः उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ सहज रूप में ही आ जाती हैं।

(१) कथावस्तु का ह्रास—अर्थात् मनोवैज्ञानिक उपन्यास में कोई लम्बी-चौड़ी दीर्घकालीन कथा न होगी। कथा का कथा के रूप में अथवा घटना का घटना के रूप में महत्त्व बहुत कम हो जायगा। महत्त्व इसमें नहीं होगा कि कितनी भारी-भरकम, गुरु-गम्भीर कथा कही गई है, वरन् इसमें होगा कि पात्र या

पात्रों के लिए जो छोटी-सी अवधि दी गई है वे उसे किस प्राणावेग से जीते हैं। देखने की बात यह नहीं है कि वह तीर कितना बड़ा है, वह लोहे का बना है अथवा वज्र का, पर ध्यान देने की बात यह है कि वह कितनी ताकत से छोड़ा गया है। तीर तृण का ही क्यों न हो परंतु जब शिकार का पीछा करेगा तो उसे तीनों लोकों में कहीं भी शरण नहीं मिलेगी। हमने जयंत की कथा पढ़ी है, 'सीता-चरण चोंच हति भागा।' हमें किसी अंग-विशेष से मतलब नहीं है—चरण हो या स्तन हो। स्तन हो तो और भी अच्छा, क्योंकि चोट वहाँ अधिक लगती है। राम ने उसे तृण का बाण मारा तो परिणाम यह हुआ कि जयंत तीनों लोकों में मारा-मारा फिरा, कहीं भी रक्षा की जगह नहीं मिली। घटना छोटी और बाण भी छोटा, पर पात्र (राम) के हृदय की आँधी पर चढ़कर वे तीनों लोकों की परिक्रमा कर आते हैं। दास्तोव्स्की के 'अपराध और दण्ड' (Crime & Punishment) में पाँच दिन की कथा है, ब्रदर्स करमन्जोव (Brothers Karemengov) में सात दिनों की, मूर्ख (Idiot) में आठ दिनों की। हैमिंग्वे के उपन्यास (For whom the Bell Tolls) के पात्र राबर्ट टार्जन को केवल चार दिन जीना है। प्रश्न यह है कि इस छोटी-सी अवधि को पात्र क्या बनाता है? क्या वह इतने प्राणावेग से जीता है कि ये ही चार दिन महान् तथा दिव्य जीवन का प्रतिनिधित्व करने लगें? क्या बूंद में बाडव का दाह छिपा है? क्या कतरा दरिया बन गया है? 'शेखर' एक रात में देखे घनीभूत विजन की कथा है। जैनेन्द्र के प्रायः सब उपन्यासों में घटनाओं का महत्त्व नहीं-सा है; कथा कथा के रूप में जहाँ समाप्त हो जाती है वहीं उपन्यास प्रारम्भ होता है। पूर्वदीप्ति पद्धति में कही जाने के कारण घटनाएँ पीछे रह जाती हैं, कहने वाले पात्र का मनोविज्ञान ही प्रमुखता धारण कर लेता है।

(२) **सुसंगठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता**—इसमें इस बात पर अधिक ध्यान नहीं रहता कि कथा की कड़ियाँ बारीकी से मिलाई जायँ।

(३) मनोवैज्ञानक उपन्यासों में कम से कम पात्रों से काम चल जाता है। पात्रों की अधिकता से अन्य उपन्यासों को भी कलात्मकता के निर्वाह में कठिनता होती है, यह प्रेमचन्द के पाठकों कोअ च्छी तरह से मालूम है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की बात ही दूसरी है। मनोवैज्ञानिकता का आग्रह जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्पष्ट है कि किसी भी उपन्यास में तीन-चार से अधिक पात्र नहीं हैं।

(४) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में महत्व का भार घटनाओं से अधिक वार्तालाप को उठाना पड़ता है। अतः यहाँ पर सशक्त, सजीव, अभिव्यंजक वार्तालापों की योजना के अभाव में उपन्यासों का रूप ही अस्पष्ट जायेगा।

जैनेन्द्र के उपन्यास तो शायद वार्तालापों के आधार पर ही टिके हैं। ज्यों-ज्यों उपन्यासों का आभ्यन्तरिक प्रभाव बढ़ता गया है उसी अनुपात में वार्तालापों की अधिकता में भी वृद्धि होती गई है। खत्रीजी के उपन्यासों में वार्तालाप नहीं के बराबर हैं। प्रेमचंद ने वार्तालापों को अधिक स्थान दिया है। जैनेन्द्र के उपन्यास तो वार्तालाप-स्वरूप ही हैं। आज यह परिस्थिति है कि बहुत उपन्यासों में तो आदि से अन्त तक वार्तालाप के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।

(५) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता से अधिक नाटकीयता पर अधिक बल दिया जाता है। मतलब यह कि घटनाओं का संयोजन कुछ इस ढंग से होगा कि वे स्वयं-स्फूर्त होंगी, अपनी कथा स्वयं कहेंगी, पद-पद पर उपन्यासकार की सहायता की अपेक्षा नहीं होगी। मनोवैज्ञानिक रूप में घटना इस तरह डूबी रहेगी कि रस को छोड़कर और किसी की जिज्ञासा पाठक को नहीं होगी।

(६) उपन्यासकार तथा पाठक के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से देखें तो इन दोनों में जो सम्बन्ध होगा वह वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और प्रेक्षक का होगा। श्रोता वक्ता के मुख की ओर देखता है, पर नाटक में तो नाटककार होता नहीं। वहाँ केवल अभिनेता तथा प्रेक्षक रहते हैं। अतः प्रेक्षक को नाटककार की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह अभिनेता के अभिनय को ही देख पाता है, वही जो कुछ दिखला दे। उसी तरह मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पात्रों के सिवा दूसरी ओर देखने का अवसर ही नहीं है।

(७) अन्य उपन्यासों के रचयिताओं तथा पात्रों का पारस्परिक सम्बन्ध भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार तथा उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध से भिन्न होता है। घटना-प्रधान उपन्यास का निर्माता अपने पात्रों का केवल परिचित मात्र होता है, उसमें तटस्थता रहती है, पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपने पात्रों का घनिष्ठ मित्र होता है, उसमें हार्दिकता तथा आत्मीयता रहती है।

(८) अतः इस सब अतिरिक्त भार को वहन करने की सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए उपन्यास को अनेक रूप धारण करने पड़े हैं। कभी पत्रात्मक, कभी चेतना-प्रवाही, कभी आत्मचरितात्मकता, कभी सबोंका सम्मिश्रण, कभी पूर्वदीप्तात्मक, कभी अग्रदीप्तात्मक बनना पड़ा है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में ये सभी रूप प्राप्त हो जायेंगे। इनके उपन्यासों में यदि पाठक कहानी का भरोसा करे तो उपन्यास का स्वरूप ही खड़ा न हो। कहानी वहाँ से प्रारंभ होती है जहाँ वह समाप्त हो चुकी है। अतः मनोविज्ञान को यहाँ प्रारंभ से ही एक सौन्दर्यात्मक सक्रियता लानी पड़ती है, Aesthetic function perform करना पड़ता है। अन्य उपन्यास न तो ऐसा कर ही सकते हैं और न उनको

इसकी आवश्यकता ही पड़ती है । उन्हें तो देश तथा काल थामे रहता है। अन्य उपन्यासों में भी मनोविज्ञान रहता है और शायद अधिक मात्रा में भी, क्योंकि पाठक को पात्रों से अधिक अवधि तक संपर्क में रहना पड़ता है। अंतर इतना ही है कि वहाँ पर उसकी ओर से उपन्यास के विधान में वैसा सौन्दर्य-विधायक अनुदान नहीं होता। ○

: २ :

जैनेन्द्र के उपन्यास और दृष्टिकोण

उमंग, उल्लास और आशावादिता का अभाव तथा जीवन के प्रति असंतोष और असहिष्णुता, प्रचलित रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, इस युग की मुख्य विशेषताएँ हैं। हमारे हृदय से विश्वास उठ गया है और उसमें बेचैनी ने घर कर लिया है। अंधकारपूर्ण गृह में बिजली का तार छू जाने से चोट खाये हुए मनुष्य की तरह सारी मानवता फड़फड़ा रही है। हृदय में उद्वेग है, उत्तेजना है, अशान्ति है, हाहाकार है, आँधी है। जिस आधारशिला को हमने सुस्थिर और चिरस्थायी समझा था, वह चूर-चूर हो गयी है; जीवन की वह व्यवस्था, जिसके द्वारा हमने आत्मोपलब्धि की आशा की थी, केवल मृग-मरीचिका ही प्रमाणित हुई। सामाजिक और राजनीतिक विषमताओं ने विक्टोरियन युग के सुख-स्वप्नों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परन्तु जीवन तो जीना ही है, इससे मुक्ति कहाँ ? और यदि जीना अनिवार्य है तो इसके लिए कुछ आधार चाहिए, समाधान चाहिए और चाहिए कुछ आश्वासन जो हमें अन्दर से थाम ले। वह आधार हम कहाँ पावें ? सभ्यता की विशाल अट्टालिका अभी-अभी ढह पड़ी है। उसी के टूटे-फूटे खण्डों को किसी तरह जोड़-जोड़कर जीवन जी लिया जाय ? परन्तु इससे तो काम चलता दीखता नहीं।

शास्त्रों के वाक्य, सामाजिक नियम और उपनियम, राष्ट्र के कर्णधार नेताओं के प्रवचन तो मानो चुक गये हों, निःशेष हो गये हों और उनसे अब कुछ बात बनती नहीं दीखती। नहीं, हमें फिर से लौटकर देखना होगा। हम जीवन को नये सिरे से देखेंगे। हमारे लिए कोई चीज निषिद्ध नहीं, कोई स्थान अगम्य नहीं; हम जीवन को सम्पूर्ण रूप से देखना चाहते हैं। हम एक नया दृष्टिकोण पैदा करेंगे, जिसके कारण वस्तुओं के मानदण्ड बदलेंगे। हमारे लिए

सागर और हिमगिरि उतने ही महान् हैं, जितना कि एक मेंढक और कुकुरमुत्ता। क्राइस्ट, मनु और प्लेटो इत्यादि के आप्तवाक्यों की नींव पर खड़ी सभ्यता, जो अभी धराशायी हो साँस-सी लेती दीख पड़ रही है, उसको दवा-दारू द्वारा पुनः जीवित कर अपने लिए हम बला मोल नहीं लेंगे। बस, एक ठोकर और ! हमारा मैदान साफ हो जाय और जीवन के निर्माण करने का अवसर तो मिले। इसी ज्वालामुखी के तट पर हम खड़े हैं; इसके गर्भ में न जाने कितने विस्फोटक द्रव्य, कितनी उल्काएँ रौद्र ताण्डव कर रही हैं।

हमारे जीवन की अन्तर्धारा में जिस महान् विप्लव का अनुष्ठान हो रहा है उसका उबाल ऊपर न आये, हमारी बाह्य सतह को एकाएक प्रक्षुब्ध न कर दे. यह कैसे सम्भव था ? उस आन्तरिक क्षोभ, आंदोलन या विघूर्णन का प्रभाव हमारे साहित्य में—खासकर उपन्यास और उसके विधान पर न पड़े, यह नितांत असम्भव है। यही कारण है कि यदि आप आज की चित्रकला या साहित्य की ओर दृष्टि-निक्षेप करेंगे तो उसमें सारी बातें एक तरह से तरलावस्था में पायेंगे, जिसमें न तो कोई निश्चित रूप-आकार ही है और न कोई व्यवस्था, जो न किसी नियम और मर्यादा की सीमा से परिवेष्टित है; और जो न हमारे मानस में बाहर से चिपकाये किसी उद्देश्य की खूंट में बंधी है। वहाँ मात्र चुनौती है, पीड़ा है, एक विस्फोट है। वह बड़ी निर्दयतापूर्वक भीतर मज्जा तक में छिपी हमारी पशुता को ऊपर उघार कर रख देता है।

यही पुकार, अंग्रेजी-साहित्य में जेम्स जॉयस, वर्जीनिया उल्फ और लारेंस ने लगायी। यह पहरेदारी का काम, हिन्दी-साहित्य में, जैनेन्द्रजी के उपन्यासों के द्वारा हो रहा है। जैनेन्द्रजी, वास्तव में और शब्द के सच्चे अर्थ में, आधुनिक साहित्यिक हैं। अँग्रेजी-साहित्य की देखा-देखी हमारे यहाँ भी काव्य को या उपन्यासों को 'युद्ध-पूर्ववर्ती' और 'युद्ध-परवर्ती' की दो श्रेणियों में विभाजित करने का प्रयत्न किया जाता है। पर वास्तव में देखा जाय तो हमारे यहाँ युद्ध-परवर्ती साहित्य का अभाव-सा ही है। 'युद्ध-परवर्ती साहित्य' शब्द का प्रयोग मैं समय के परिमाण से नहीं कर रहा हूँ; समय की दृष्टि से तो १९१८ के बाद जो कुछ लिखा गया, वह सब इसके अन्दर आ जायगा। परवर्ती युद्ध-साहित्य से मेरा अर्थ उस साहित्य से है जिसमें युद्ध के द्वारा खड़ी की गयी अथवा जीवन के अन्दर-ही-अन्दर बहनेवाली, पर युद्ध के कारण हमारे सामने सुस्पष्ट रूप में आ जानेवाली समस्याओं, आकांक्षाओं और विवेचनाओं की अभिव्यक्ति हुई हो। युग-विभाजन करते समय यही दृष्टि ठीक भी है। इस दृष्टि से यह युग शायद हमारे यहाँ १९३० के बाद से प्रारम्भ होता है।

आइये, अब जरा इंगलैंड के कुछ युद्ध-परवर्ती साहित्यिकों को देखें और उनकी विशिष्टताओं को सामने रखकर सोचें कि जैनेन्द्र को इस युग के अन्दर रखना उचित है या नहीं। बनार्ड शॉ का नाम तो सबकी जिह्वा पर है। शॉ में सबसे प्रमुख बात, जो हमारे ध्यान को आकर्षित करती हैं, वह है उसकी बौद्धिक ललकार। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य अपने शयनागार में दरवाजे को बन्द कर निर्भय हो, अपने को चारों ओर से सुरक्षित समझकर सुख की नींद सो रहा है, तब तक कोई दरवाजे को जोर से खटखटाकर आसन्न विपत्ति की सूचना देता है। ठीक इसी तरह की भावना शॉ के पाठकों को होती है। उदाहरण लीजिये; हम आन्दोलन के नेताओं को सभाओं के मंचों पर तथा समाचारपत्रों में बड़ी सजीव भाषा में कहते हुए पाते हैं कि निर्दयी पुरुषों ने अपनी स्वार्थपरता और पशुता के कारण सदियों से महिलाओं को पराधीन और पंगु बना रखा है। बेचारी स्त्री दुर्दान्त पुरुष की वासनाओं की बलि के सिवा कुछ रह ही नहीं गयी। शॉ कहता है कि नहीं, यह सरासर असत्य है। भला यह कैसे सम्भव है कि पुरुष की छोटी-सी नाचीज मूर्खता, जिसे हम स्वार्थपरायणता कह लें, स्त्रियों को गुलाम बना सकती है जबकि स्त्रियों के निर्माण में पुरुषों की पराजय के उद्देश्य को ही प्रकृति ने निहित-सा कर रखा है? उसके 'मैन एण्ड सुपरमैन' नामक नाटक में एनी के प्रेमी से जैक टैनर कहता है—"मधुमक्खियों के सम्बन्ध में मैटरलिंक ने जो पुस्तक लिखी है क्या तुमने वह पढ़ी है? वह पुरुषों के लिए भयावह पाठ है। तुम समझते हो, तुम एनी के प्रणय-प्रार्थी हो, तुम प्रणयी और वह प्रेयसी; तुम्हारा काम प्रणय-याचना करना, उसके हृदय को जीतना है। मूर्ख, जानते नहीं, तुम्हारा पीछा हो रहा है। शिकार तो तुम हो, जिसका आखेट करने पर वह तुली हुई है।"

इसी तरह सर्वसाधारण की यह धारणा होती है कि किसी देश के शासन की बागडोर लोक-सभा या सरकार के हाथ में रहती है; परन्तु शॉ यहाँ भी हमारे मानस के तार को झनझनाये बिना नहीं रहता। वह इस प्रजातंत्र की तह में डूबकर इसके असली रूप को, आवरण हटाकर, इस प्रकार दिखलाता है:

"तुम्हारे देश की सरकार! वह क्या है? वह मैं ही हूँ। हाँ, मैं और लज़ारस! क्या तुम समझते हो—तुम और तुम्हारे-जैसे आधा दर्जन नौसिखुए उस दूकान में बैठे मूर्खतापूर्ण बकवास के सहारे ही मुझ पर और लज़ारस पर शासन कर सकेंगे? नहीं दोस्त, तुम वही करोगे जिसमें हमें लाभ होगा। तुम युद्ध तभी छेड़ोगे जब हमारे लिए वह लाभदायक होगा, अन्यथा शान्ति की ही घोषणा करनी पड़ेगी। जब हम कोई नीति पहले निर्धारित कर लेंगे तभी तुम्हें

देश के व्यापार के लिए उस नीति की जरूरत मालूम पड़ेगी। जब मैं अपनी लाभ-दरों को ऊँचा रखने के लिए किसी नीति की जरूरत महसूस करूँगा, तभी तुम्हें समझना पड़ेगा कि उसकी माँग राष्ट्रीय हित के लिए है। जब दूसरे लोग हमारे लाभों को नीचा गिराने वाले काम करेंगे, तुम्हें पुलिस और सेना बुलानी पड़ेगी। बदले में हमारे द्वारा परिचालित समाचारपत्रों में तुम्हारी प्रशंसा के गीत गाये जायेंगे और अपने को एक प्रमुख राजनीतिज्ञ समझने की कल्पना में जो आनन्द मिलेगा, वह ऊपर से अलग !"*

इसी तरह पाप-पुण्य, राग-द्वेष इत्यादि को लेकर शॉ ने जिस विचार-प्रवाह को हमारे सामने रखा है वह एक बार हमें जड़ से हिला देता है; हम चिहुँक उठते हैं और सोचने के लिए बाध्य होते हैं कि अरे, अब तक का जो हमारा जीना हुआ है वह गलत राह से तो नहीं हुआ ! जिस आधार-शिला पर हमने अपने जीवन की अट्टालिका खड़ी की है, उसमें उसके भार को वहन करने की सामर्थ्य भी है ?

ठीक इसी तरह की झकझोर, आघात और प्रक्षोभ जैनेन्द्रजी के उपन्यास पढ़ने पर पाठकों को मिलता है। पाठक झुँझलाता रहता है, कोसता रहता है और सम्भव है यह कह उठे कि लेखक क्या उलूलजलूल लिखता जाता है; पर साथ-ही-साथ वह महसूस भी करता जाता है कि लेखक जो बात कह रहा है, सबके बावजूद, है सच्ची। मैं यहाँ एक व्यक्तिगत अनुभव की बात कह दूँ। 'कल्याणी' तुरन्त ही प्रकाशित हुई थी। श्रीमती उपाध्याय ने मुझसे कहा, "सुनते हैं ? 'कल्याणी' आपने पढ़ी ? 'कल्याणी' क्या है ? खाक, पत्थर, कुछ भी तो समझ में नहीं आता !" कहने का अर्थ यह कि जैनेन्द्र के उपन्यास ऐसे हैं कि हम ना-ना करते ही रहते हैं, झिझकते ही रहते हैं, पर साथ ही साथ ग्रहण भी करते जाते हैं। हम समझते हैं और सोचते हैं कि उससे भाग जायँ;

---

* The government of your country ! I am the government, I and Lozarus. Do you suppose you and half a dozen amateurs like you, sitting in a row in that foolish gabble shop can govern undushaft and Lozarus ? No, my friend, you will do what pays us. You will make war when it suits us and keep peace when it does not. You will find out that trade requires certain measures when we have decided on these measures. When I want to keep my dividends up you will discover that my want is a national need. When other people want something to keep my devidends down, you will call out the police and military and in return you shall have the support and applause of my newspapers and the delight of imagining that you are a great statesman.

पर ठहरकर देखते हैं तो वह चीज हमारे सामने आ जाती है; मानो कहती है कि भला कोई पीठ के सामने भागने का प्रयत्न करता है; शायद जब हम उससे लड़ते रहते हैं उसी समय उसमें से स्वाद भी लेते रहते हैं।

'त्यागपत्र' को लीजिये। समाज के हितैषियों का विश्वास है कि समाज का, उस गलित अंश का, जिसे हम 'वेश्या' कहकर पुकारते हैं, उद्धार होना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब हमारे देश के नवयुवक उन्हें अपनाकर पत्नियों के रूप में ग्रहण करने को तैयार हों। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने अपनी अन्तिम कहानी 'सालवती' में इसी उद्देश्य को हमारे सामने रखा है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने भी 'सेवा-सदन' में वेश्याओं को रौरव नरक से निकालकर उन्हें समाज में लाकर पवित्र करने का कम प्रयत्न नहीं किया। पर क्या हम कभी यह सोचने का कष्ट करते हैं कि समाज में उच्चता का दम्भ भरने वाले, कुलीनता और सभ्यता की डींग हाँकने वाले हम उस नरक के कीड़े से भी अपदार्थ हैं? क्या समाज ने दवा पिलाकर हमें सुला नहीं दिया है? हमारे भीतर एक ऐसी मानसिक जड़ता और चेतनाहीनता नहीं उत्पन्न कर दी है, जिसमें हमारी तर्क-शक्ति जाती रही? हम समाज द्वारा निश्चित परिधि के बाहर जरा शुद्ध वायु में साँस भी न ले सकते? क्या यह स्थिति समाज के लिए भी हितकारक है? क्या समाज के दिये हुए चिराग से उसका ही गृह भस्म हो जायगा?

'मृणाल' भी वेश्या है। एक नवयुवक, जो उसका सम्बन्धी है, साहस-पूर्वक उसे अपने यहाँ ले जाकर समाज की कुलीन महिला के रूप में रहने के लिए प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना के उत्तर में 'मृणाल' जो कहती है, वह वज्र से भी कठिन और साथ-ही-साथ फूल से भी कोमल है। उसके शब्दों में जो आग है, विष है, ज्वाला है, उसे झेलने के लिए हृदय की सारी आर्द्रता और कोमलता की अपेक्षा है। 'मृणाल' यहाँ से टूटकर उखड़ना नहीं चाहती; वह चाहे ही क्यों? उसी के शब्दों में सुनिये, "यहाँ का लाभ?—तुम पूछोगे। लाभ बहुत हैं। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही मानो कीमती है। यहाँ उसी हिसाब से मानव की घट-बढ़ की कीमत है। मैं मानती हूँ कि यही रोग है, यही भयानक जड़ता है; किन्तु यही लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असंभव है कि हम अपने को सच्चरित्र दिखायें, दिखाना चाहें या दिखा सकें। यहाँ सदाचार का कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि पाप का मूल्य है। अगर कहीं भीतर, बहुत भीतर मज्जा तक में पशुता का कीड़ा छिपा है तो यहाँ ऊपर आ जायगा। यहाँ छल

असम्भव है, वह छल जो कि सभ्य समाज में जरूरी है। यहाँ तहजीव की माँग नहीं है, सभ्यता की आशा नहीं है। वेहयाई जितनी उघड़ी सामने आये, उतनी ही यहाँ रसीली बनती है। बर्बरता को लाज का आवरण नहीं चाहिए। मनुष्य यहाँ खुलकर पशु हो सकता है। जो नहीं हो सकता, उसकी मनुष्यता में बट्टा समझा जाता है। इसलिए सच्चरित्र दीखने वाला यहाँ टिक नहीं सकता। उसे मज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो वाहर हो, वही भीतर हो। भीतर पशु हो तो इस जलवायु में आकर वाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होना होगा। क़लईदार सदाचार यहाँ खुलकर उघड़ा रहता है। यहाँ खरा कंचन ही टिक सकता है; क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचन की माँग नहीं, पीतल से घवराहट नहीं। भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दिखाने का लोभ यहाँ पल-भर नहीं टिकता है, वल्कि यहाँ पीतल का ही मूल्य है। इसी से सोने के धैर्य की यहाँ परीक्षा है। सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी। यह यहाँ की कसौटी है। मैं मानती हूँ कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वही खरा है और वही प्रभु का प्यारा हो सकता है।"

जैनेन्द्र के उपन्यासों में यत्र-तत्र इस तरह के अनेक स्थल हैं जहाँ जाकर हमारे मुँह पर मानो एक जोर का तमाचा लगता है, हम मानों विजली के तार से छू जाते हैं और सारा शरीर झनझना उठता है। जयवर्द्धन में यह पूछने पर कि आप उद्योगीकरण नहीं चाहते, आचार्य कहते हैं, "उद्योग कहते हो! प्रमाद क्यों नहीं कहते? उद्योग मशीन पर डालकर खुद उद्यम से वचने का ही तो वह वहाना है। फुरसत चाहिए, यह क्यों नहीं कहते कि मौत चाहिए!"

अब प्रश्न यह होता है कि औपन्यासिक के लिए यह धक्का पहुँचाने वाला तरीका कहाँ तक वांछनीय है? आज के अन्तर्राष्ट्रीय विस्फोट के युग में हम इन शब्दों से पर्याप्त रूप से परिचित हो चुके हैं। आये-दिन हिन्दी के मासिक या साप्ताहिक पत्रों में जैनेन्द्र के उपन्यासों की जो आलोचनाएँ निकलती हैं, उनसे तो यही कहा जा सकता है कि हम इन्हें गवारा करने के लिए तैयार नहीं हैं।

मेरे लेखे साहित्य का कोई अंश हो—कविता, उपन्यास, नाटक या कहानी—सबके लिए मेरे पास एकमात्र कसौटी है कि वह कहाँ तक जीवन के प्रवाह से ओत-प्रोत है। चाहो तो इसे यह भी कह लो कि कहाँ तक वह काल से, स्थान से और पात्र से रस खींचकर हमें देकर कृतज्ञ कर सका है। इस दुनिया की धवकती मरुभूमि में आनन्द के मलय का संचार कर सका है? जहाँ तक, जिस

मात्रा में वह इस अनुष्ठान में कृतकार्य हो सका है, वहाँ तक ही, उस मात्रा में ही, वह साहित्य नाम को सार्थक कर सका है! रोमांस का भी यही ध्येय है, आदर्शवाद का भी यही और यथार्थवाद का भी यही! एक लेखक का कथन है कि "यथार्थवाद हमें अभिज्ञान का आनन्द देता है, आदर्शवाद सन्तोष का और रोमांस विस्मय का।"* ध्येय हमारा आनन्द है; वह किसी भी राह से, किसी की मार्फत होकर आये।

मनुष्य के पास एक बड़ी ही विचित्र वस्तु है, जिसे हम कहते हैं हृदय। उसकी विचित्रता के बारे में क्या कहा जाय? वह कोलाहलपूर्ण संसार से अलग रहकर न जाने किन-किन पीड़ाओं और किन-किन वेदनाओं को लेकर अहर्निश धड़कता रहता है। वह कब किस चीज के लिए मचल पड़ेगा, कब कौन-सी चीज की प्राप्ति से शांति-लाभ करेगा, यह निश्चित नहीं। कभी तो एक लड्डू पर ही उसका सारा हठ-आग्रह पानी-पानी होकर बह गया और कभी तो आसमान के तारे भी उसे टस-से-मस न कर सके हैं। जैनेन्द्रजी की एक कहानी लीजिए—मास्टरजी। मास्टरजी, महामहिम बाबू, अपनी स्त्री श्यामकला को क्या नहीं देते? उसे सदा ही सचिन्त प्रेम मिलता रहा है। वह नाराज हुई है तब भी लाड़ से मना लिया गया है। हँसी है, तब भी उसके साथ हँस लिया गया है", पर श्यामकला का हृदय जो ठहरा नादान! वह सोचती है कि यह क्या बात है कि वह मुझपर नाराज नहीं होते···क्यों मुझे बहलाते ही हैं, धमकाते नहीं···मैं नहीं चाहती अच्छा पहनना, अच्छा रहना···।" ऐसी इच्छा पर तो एक बार हँसी ही आयेगी; पर इस तरह की इच्छा मन में होती है। यह बात हम और आप अस्वीकार नहीं कर सकते। और, हृदय के इस कोने को—पहलू को, यदि आप संतुष्ट नहीं कर सकते तो आपको जीवन में एक अभाव की पीड़ा चैन नहीं लेने देगी।

इस तरह की आकांक्षाएँ केवल श्यामकला तक ही सीमित नहीं। हम और आप सब एक हद तक श्यामकला हैं और हृदय की तह में यह इच्छा पोसते रहते हैं कि कोई जरा हमें छेड़े तो सही, हमें कोई तंग करे और जरा जीवन में उद्वेग, झुँझलाहट आकर हमें झकझोर तो दे। अंग्रेजी में अर्नेस्ट रेमंड की एक पुस्तक है, जिसका नाम है 'थ्रू लिट्रेचर टू लाइफ'। इसमें उन्होंने साहित्य की विवेचना करते हुए एक जगह लिखा है कि "ऐसा समय सदा आयेगा और आना चाहिए ही कि साहित्य हमारी मानसिक तुष्टि के लिए एक विस्फोटक

* Realism gives us the pleasure of recognition, idealism of satisfaction and romance of surprise.

द्रव्य से कम न हो; हमारी शान्ति का भंग करने वाला और कष्टदायक हो; हमारी प्राचीन मान्यताओं और मानसिक जड़ता को गति देने वाली एक ऐसी विध्वंसिनी शक्ति के रूप में प्रकट हो जो हमें फिर से नये निर्माण के लिए प्रेरित करे।"* जैनेन्द्रजी के उपन्यास 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी', 'जयवर्द्धन', 'सुखदा' व 'विवर्त' हमें चाहे और कुछ न देते हों, पर जीवन के एक भयंकर, तड़काने वाले खण्ड को तो, हमारी आँखों में शलाका लगाकर, उपस्थित कर ही देते हैं; ऐसे प्रचण्ड व्यक्तित्व की एक नारी को तो दिखला ही देते हैं जिसे हम दूसरों से उधार लिये हुए मानसिक चश्मे की ओट में घृणा करने, हिकारत से देखने की वहानेवाजी भले ही कर लें, पर हृदय की तह में महसूस करते हैं कि यह है तो हमारा ही प्रतिविम्ब, हमारी ही सगी। हमारे हृदय की प्रवृत्ति, सचमुच 'मृणाल', 'सुनीता' और 'कल्याणी' ही की तरह कुछ-कुछ है। हम जहाँ कहीं भी अपने परिचितों को, अपने ही समान विचार रखने वालों को देखते हैं, हमें एक प्रकार का आनन्द होता ही है जिसे हम अभिज्ञान का आनंद कह सकते हैं। मैं एक ही प्रश्न जैनेन्द्रजी के पाठकों से पूछता हूँ और वह यह कि क्या आपको जैनेन्द्रजी के उपन्यासों को पढ़कर इस तरह के अभिज्ञान का आनन्द नहीं होता ?

एक क्षण ठहर कर आइये ! किसी कवि की कविता से कितना लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, इस पर जरा विचार करें। वह आनन्द किस तरह का है ? क्या हम किसी कविता के प्रति कृतज्ञता का अनुभव इसलिए करते हैं कि वह हमें ऐसी वातें दे रही है, जिन्हें हम जानते नहीं थे ? या, जिन्हें पाकर हम दुनिया को दिखलाकर कह सकें कि देखो, हमने नयी चीज पायी है ? नहीं, कविता पढ़कर तो हमें आनन्द इसलिए होता है कि हम यह अनुभव करने लगते हैं कि कवि ने जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की है, वे तो हमारी अपनी ही हैं, वे हमारे हृदय के पिंजरे में पड़ी-पड़ी छटपटा रही थीं। उन्हें गगन में विहार कर उन्मुक्त गीत गाने के लिए द्वार खोल दिया गया है। एक उदाहरण लीजिये। मेरे और आप सब-किसी के हृदय में इस तरह की अनुभूति होती ही है कि मनुष्य नियति के सामने असहाय है। यह भावना हमारे हृदय के अन्दर सदा

*There will be and should be times when it (literature) is nothing less than dynamite to your complacency an uncomfortable disturbing factor. a solvent to old assents and easy inter-destructive force that leaves you with nothing to repair or build anew.

घुमड़ती रहती है। पर जब हम कवि नरेन्द्र की ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं—

कब हुआ है सत्य उसका स्वप्न, जिसने स्वप्न देखा ?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किसकी भाग्य-रेखा ?

तो हृदय को कितनी अपार शान्ति मिलती है, मानो इन पंक्तियों में कवि ने अपना ही नहीं, हमारा भी कलेजा निकालकर रख दिया है। "जीवन के स्वर और गुर' उसकी विचित्र अनियमित लय को गृहीत कर कविता उद्घाटित करती है और गल्प प्रस्तुत।" क्या जैनेन्द्रजी के उपन्यास इस स्वर को, इस गुर को और जीवन की विचित्र अनियमित लय को अपने पात्रों के तानेबाने में बुनकर हमें दिखला नहीं देते ?

युद्ध-परवर्ती युग के आंग्ल साहित्यिकों और विचारकों में आल्डस हक्सले का स्थान बहुत उच्च है और उनका नाम बहुत ही आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'वल्गैरिटी इन लिट्रेचर' में स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कह डाला है—"चूँकि एक साहित्यिक की रचना से बहुत-से मनुष्यों के मानस-तल पर आघात पहुँचता है, इसी कारण लेखक के लिए यह लाज़िमी हो जाता है, एक तरह से उसका कर्तव्य हो जाता है, कि वह इस आघात और इस आक्रमण की क्रिया को जारी रखे; क्योंकि जो सत्य को देखकर आघात का अनुभव करते हैं, घबरा जाते हैं, वे केवल निर्बोध और अज्ञानी ही नहीं, अपितु नैतिक दृष्टि से हीन भी हैं। निर्बोध को ज्ञानवान् बनाना और नीतिहीन को दण्ड देना तथा सुधारना हमारा धर्म है। यह उच्च ध्येय तभी सिद्ध हो सकता है जब इस तरह के आघातों का सामना करते रहना पड़े। इससे दो लाभ होंगे—प्रचण्ड सत्य के साथ आघात के सत्य से घृणा करने वालों को एक तरह से, उपयुक्त दण्ड मिल जायगा और बार-बार इस दण्ड की क्रिया जारी रखने से उनके मानस में एक शक्ति पैदा होगी, जिससे वे यह आघात बिना कुछ दर्द अनुभव किये ही सह लें। परिणाम यह होगा कि उनका सुधार हो जायगा और सत्य से घृणा करने के रोग के जो कीटाणु उनमें घुस गये हैं, वे दूर होंगे।"

यहाँ किसी रचना के प्रणयन में जिस मानसिक प्रक्रिया का सहयोग होता है, उस पर जरा और बारीकी तथा सूक्ष्मता से विचार करें। किसी कलाकृति की अभिव्यक्ति में तीन पक्ष हुआ करते हैं—प्रथम कलाकार; द्वितीय वह मानव-समुदाय, जिसके लिए कला की सृष्टि होती है; और तृतीय उस कलाकृति की कुछ अनिवार्य अन्दरूनी आवश्यकताएँ। इन तीनों की समन्वयपूर्ण व्यवस्था कलाकार को करनी ही पड़ती है। लेखक लिखता है, "ईश्वर की तरह निस्पृह होकर स्वान्तःसुखाय" पर पाठकों को भी वह दाद नहीं दे सकता। जैनेन्द्रजी

अपनी 'सुनीता' की प्रस्तावना में कहते हैं—"सिरजनहार के समान निस्पृह मैं कहाँ ? यद्यपि इस पुस्तक के नाना पात्रों में मैं बोल रहा हूँ तो भी पाठकों के हृदय को सीधा पाने की इच्छा जी में शेष रह ही जाती है। पुस्तक में रचे हुए मुझको पाठक जैसा चाहें, समझें।"

प्रथम 'स्वान्तःसुखाय' वाली बात पर विचार कीजिये। लेखक कोई रचनात्मक साहित्य इसलिए प्रस्तुत करता है कि वह अपनी रचना में विचित्र आनन्द और रसास्वाद का अनुभव करता है। लेखक के आनंद के पहलू की चर्चा तो ऊपर कुछ हो चुकी है। जब लेखक समाज में बहती तथाकथित सुरुचि से विद्रोह करता है, उसकी आरोपित सीमा-शृंखला को तोड़ता है, तब उसे तोड़-फोड़ में, छीना-झपटी में एक आनंद तो आता ही है, वह पाखंडियों और धर्मध्वजियों की भौंहों में बल पड़ते देखकर आनन्द को प्राप्त करता ही है; पर साथ-ही-साथ वह कुछ अपने को भी तंग करके, कष्ट और खीझ में डालकर, उसका आनन्दोपभोग करना चाहता है। यदि आधुनिक मनः विश्लेषणवादियों से शब्द उधार लेना अपराध न हो तो यह कह सकते हैं कि एक सच्चा लेखक परपीड़न-प्रेमी (Sadist) और आत्मपीड़न-प्रेमी (Masochist) दोनों होता है। जहाँ वह दूसरों को तंग करने का मजा लेना चाहता है, वहाँ स्वयं तंग होने में भी आनन्द प्राप्त करता है। उसके लिए शाही सड़क मौजूद है, बहुत-से लोग उसी राह से आये और गये हैं, वह भी क्यों न उसी राह से चले ? पर नहीं, वह ऐसा नहीं करेगा। जो लेखक इतनी सुविधाओं पर पदाघात कर मानो विपत्ति के पथ पर—काँटों से भरे पथ पर—अपने पैरों से असम्बल, चलने पर कमर कसता है, जान-बूझकर अपने को उलझनों में डालता है, उसमें कितनी त्याग की मात्रा है ? वह क्यों ऐसा करता है ? अन्य कारणों के साथ एक यह भी कारण है कि लेखक ने जिस काल में, जिस समाज में जन्म लिया है उससे वह असन्तुष्ट है; साथ-ही-साथ उसके अन्दर जन्म लेने के नाते उसे अपने पर भी मन-ही-मन खीझ है। वह अपने को कष्ट में डालकर इसका प्रायश्चित्त करेगा। "दूसरों को नाराज करने में तो आनन्द मिलता ही है; पर जानबूझकर सुरुचि की उपेक्षा करने वाले को एक प्रकार का और आनंद मिलता है और वह है अपने को नाराज करना।"

जैनेन्द्र ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नवीन दिशा की ओर प्रवृत्त किया है, उसमें एक नयी चेतना उपस्थित की है। उसकी परिधि को विस्तृत किया है और साथ-ही-साथ उपन्यास में लचीलापन लाकर उसमें ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण विशेषताओं का समावेश किया है, जिनका उसमें अब तक अभाव था।

साहित्य के इतिहास-लेखकों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे किसी पुस्तक के

प्रकाशन-सम्वत् से नवीन युग का आरम्भ मानते या निश्चय करते हैं। उपन्यास-साहित्य के आधुनिकतम युग के प्रारंभ काल के निर्णय के हेतु वहुत-से उपन्यासों के नाम गिनाये जा सकते हैं; किन्तु 'परख' का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास-साहित्य में 'नये'—चाहें तो 'उन्नत' भी कह सकते हैं—युग का आरंभ था। हिन्दी-पाठकों ने महसूस किया कि वे एक ऐसे लेखक के सम्पर्क में आये हैं जो अन्य औपन्यासिकों से सर्वथा भिन्न है। आइये, इस वात पर विचार करें।

उपन्यास से हमारा क्या तात्पर्य है ? अँग्रेजी में इसका पर्यायवाची शब्द है 'नावेल'। अँग्रेजी-साहित्य के विख्यात औपन्यासिक और आलोचक जे० वी० प्रीस्टले ने 'नावेल' की परिभापा देते हुए कहा है—"उपन्यास की परिभापा मैं जो दे सकता हूँ वह यही है कि वह गद्य में कल्पनाप्रसूत चरित्रों और घटनाओं के वर्णन की कहानी है।" इस परिभापा में आप 'वर्णन' और 'कहानी' इन दो शव्दों पर ध्यान दीजिये। हिन्दी-साहित्य में आज तक और अँग्रेजी-साहित्य में वहुत-हाल तक उपन्यासों में कथा की चुस्ती और दुरुस्ती, गठन के सौष्ठव और साज-सज्जा को महत्त्व दिया जाता था। जिस उपन्यास में कथा-भाग जितना ही आकर्पक, रोचक और भव्य होता था, वह उतना ही उच्च कोटि का समझा जाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री पदुमलाल पन्नालाल वख्शी ने कथावस्तु की रोचकता को उपन्यास में मुख्य स्थान दिया है। जैनेन्द्र के पहले वहुत तो नहीं, पर प्रसिद्ध औपन्यासिक हो गये हैं—श्री किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, कौशिक, निराला, जयशंकर प्रसाद आदि। इन लोगों ने उपन्यासों से भिन्न-भिन्न काम लिये हैं अवश्य; पर इनमें एक वात निश्चय ही समान रूप से देखी जाती है। वे लाख भिन्न हों, पर वे कथाकार हैं, कथा-भाग उनके उपन्यास में परिपुष्ट है। उनमें सामाजिक रूढ़ियों, देश की राज-नैतिक समस्याओं और हलचलों तथा पाप और पुण्य के असली स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। कहीं वड़े ही मार्मिक और सजीव नाटकीय दृश्य भी आये हैं, पर वे सव कथा के सेवक होकर ही आये हैं; उनकी सार्थकता यही है कि वे कथा को और भी रोचक वनाने में सहायक होते हैं।

परन्तु जैनेन्द्र में 'कथावस्तु' नहीं के वरावर है। जितनी है भी, वह वहुत ही ऊवड़-खावड़ है, उसमें साफ-सुथरा प्रवाह नहीं है। वह चलती तो है पर लँगड़ाती हुई; उसमें कोई क्रमिक विकास नहीं है। आपने मेंढकी को देखा होगा; वह रहती है, रहती है, वस कूदकर एक छलाँग में झट दूसरी जगह चली जाती है। उसी तरह जैनेन्द्र की कथा देखने में स्थिर है, पर दूसरी छलाँग में कूदकर दूसरी जगह, दूसरे सिरे पर। उसका अन्त वड़ा ही आकस्मिक है तथा

नीरस भी कह सकते हैं। 'कल्याणी' के प्रारम्भ में, जिसे उपन्यास का ग्रंग ही समझना चाहिए, जैनेन्द्र के कहा—"ग्रन्तिम उपसंहार वाला ग्रंश रजिस्टर में स्याही के वजाय पेंसिल का लिखा हुग्रा मिला। मालूम होता है कि समाप्ति की ग्रोर उनका धैर्य टूट गया था ग्रौर झल्लाहट में उन्होंने उपसंहार द्वारा कथा का ग्रन्त किया।" लेखक वकील साहब को जानता था। इन पन्नों में वर्णित कल्याणी के वारे में भी उन्हीं के मुख से सुना था। पर यह मानना सम्भव न था कि वकील साहब के कागजों में वह कहानी लिखी तक मिल जायगी। उनके स्वभाव को देखते हुए लेखक इसको वहुत ग्रनहोनी वात गिनता है। वकील साहब के द्वारा कहानी के लिखे जाने का ग्रनहोनी होना ग्रौर कुछ नहीं, जैनेन्द्र के द्वारा प्रचलित ग्रर्थ में उपन्यास का लिखा जाना ग्रनहोनी होना है ग्रौर कुछ नहीं। उपसंहार तक ग्राते-ग्राते वकील साहब की झल्लाहट जैनेन्द्र की झल्लाहट है—न तो कोई योजना है ग्रौर न कोई उद्देश्य।

मेरेडिथ के उपन्यासों के सम्वन्ध में ग्रालोचना करते हुए ग्रास्कर वाइल्ड ने लिखा है—"एक ग्रौपन्यासिक की हैसियत से वे सव-कुछ कह सकते हैं, सिवा कहानी कहने के।" यही वात जैनेन्द्र के वारे में भी कही जा सकती है। कथा-प्रवृत्ति के प्रति यह उदासीनता 'परख' में ही दिखलाई पड़ने लगती है, पर ज्यों-ज्यों वे आगे वढ़ते जाते हैं, यह वात ग्रौर भी ग्रधिक स्पष्ट होकर सामने ग्रा जाती है; यहाँ तक कि 'कल्याणी' में ग्राते-ग्राते यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट हो गयी है कि पाठकों को झुँझलाहट-सी होने लगती है। वास्तव में कथाकारिता की दृष्टि से जैनेन्द्र हिन्दी के ग्रौपन्यासिकों में सवसे ग्रकुशल कथाकार हैं। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि इधर ऐसे एक-ग्राध उपन्यास निकले हैं, जिनकी मूल प्रेरणा वही है जो जैनेन्द्र के उपन्यासों में है; मसलन, श्री भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा'। पर लेखक उसमें कथा के मोहजाल से मुक्त नहीं हो सका है। यदि ग्राप उपन्यास को साधारणतः साफ समझ में ग्राने वाली कहानी मात्र समझें तो जैनेन्द्र को ग्रौपन्यासिकों की निम्नतम श्रेणी में भी स्थान नहीं। 'कल्याणी' के एक ग्रालोचक के शब्दों में—"पूरा उपन्यास पढ़ लेने के वाद पाठकों को ऐसा लगता है कि इसमें कथानक का ग्रभाव है, घटनाएँ उपन्यास को देखते हुए कम ग्रौर नाकाफी हैं ग्रौर ऐसा मालूम होता है कि उपन्यास लिखते-लिखते वीच में ही खतम कर दिया गया है।"

वास्तव में जैनेन्द्रजी तत्त्ववेत्ता, विचारक ग्रौर दार्शनिक हैं ग्रौर मनोवैज्ञानिक भी। जीवन के मर्म को समझना ग्रौर समझने से वढ़कर इसी जीवन में, इसी पृथ्वी पर पा लेना उनका मुख्य लक्ष्य है। जैनमतावलंवी होने के नाते उन

पृथ्वी का सारा इतिहास हमारी आँखों के सामने आ जाता है। जैनेन्द्र वास्तव में गीति-औपन्यासिक (लीरिक नावेलिस्ट) हैं। वे उपन्यास के द्वारा एक ऐसी शिल्प-विधि, रचना-प्रक्रिया का प्रादुर्भाव करना चाहते हैं, जिसमें हमारे जीवन के उन्हीं उदात्त क्षणों की अवतारणा हो, जिसमें एक रहस्यमय क्षण, काल के बन्धन से मुक्त, अपने नवोद्‌बोधन में सिमटा रहता है। जैनेन्द्र के चारों उप-न्यासों में 'सुनीता' ही मात्र है, जिसमें कथा के स्वरूप की रक्षा की गयी है, जिसमें कथा-रस भी प्राप्त होता चलता है; पर उसमें भी प्रधानता कुछ उदात्त क्षणों के समावेश की ही है। सार-सूचना यह है कि 'सुनीता' में भी उपन्यास का जीवन उसकी कथा-वस्तु में नहीं, बल्कि उस दृश्य में है, जिसमें श्रीकान्त, हरिप्रसन्न वगैरा 'मीराँ' नामक फिल्म देखने जाते हैं और जहाँ श्रीकान्त मीराँ के उस प्रेम की व्याख्या करता है, जिसने उसे ऐसी कठोरता दी कि पति के हृदय की पीड़ा को वह बिना पिघले सह ले तथा जंगल का वह प्रसंग, जहाँ सुनीता लहकते हुए हरिप्रसन्न के सामने निरावरण हो उसे पानी-पानी कर देती है। इसी तरह 'परख' में भी कट्टो, बिहारी इत्यादि के जीवन के गीतिमय क्षणों को ही लाकर उनके जीवन को समझने का प्रयत्न किया गया है।

ऊपर मैं कह आया हूँ कि कथा-निर्वाह की दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यासों में बहुतेरे अक्षम्य दोष हैं। उनके पात्र और घटनाएँ शून्य आकाश में झूलते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे हम युद्ध-सम्बन्धी खबरों के प्रसारण में सुना करते थे कि हमारे हवाबाज, शत्रु के प्रदेशों पर गोलाबारी करके उन्हें नुकसान पहुँचाकर सही-सलामत घर लौट आये हैं, वैसे ही हम देखते हैं कि प्रेमचन्द या प्रेमचन्द-स्कूल के उपन्यासों के पात्र सही-सलामत वापस अपने घर आ जाते हैं; पर जैनेन्द्र के पात्रों की खबर हमें संतोषजनक नहीं मिलती, उनके बारे में हमारा हृदय चिंता में रहता है। बात यह है कि जिन उपन्यासों की मूल प्रेरणा कथा की राह से होकर आती है, उनमें लेखक का एक तरह से कर्त्तव्य हो जाता है, उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह अपने पात्रों के बारे में कोई समुचित समाधान दे, उन्हें सही-सलामत अपने ठिकाने पहुँचा दे, और इस प्रकार उपन्यास का अन्त एक बहुत साफ-सुथरे और समझ में आ जाने वाले ढंग से हो। इससे हमारे हृदय में संतोष तो होता है, हम चैन की साँस तो लेते हैं, पर आत्मा की गहरी तलाश और बेचैनी जागृत नहीं होती, मानो लेखक ने कोई घूँट देकर हमारे अन्दर की अनुभूति की शक्ति को सुला दिया हो, पाठकों के हृदय-शिशु को सस्ते खिलौने देकर भुलावा दे दिया गया हो और वह जिस बात के लिए अड़ा था, उससे उसका ध्यान हटा दिया गया हो। जैनेन्द्र में यह बात नहीं है। यहीं वे

राष्ट्रीयता के अनन्य भक्त,
हिन्दी के प्रबल समर्थक,
भावात्मक एकता की सजीव
प्रतिमा तथा मेरे परम मित्र
श्री प्रो० ए० चन्द्रहासन
को सादर ।

—देवराज उपाध्याय

हिन्दी के अन्य औपन्यासिकों से अलग हो जाते हैं। वे हमारे हृदय पर क्षणिक आराम पहुँचाने वाला रुई का फाहा नहीं रखते, वरन् हमको भीतर से जगाते हैं और कहते हैं कि तुम अपने पैरों पर खड़े हो, अपना उद्धार आप करो, दूसरों की बतायी हुई मान्यताओं पर कब तक दुनिया में चलते रहने का अभिनय करोगे ? देखोगे कि ये तुम्हें संकट के समय, जब तुमको सहारे की सबसे ज्यादा आवश्यकता होगी, धोखा दे देंगी, अतएव, अपना पथ-निर्माण स्वयं करो, अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलो ! लो, जीवन यह है, यही इसका रूप है, इन उपन्यासों को देख लो, पर सोचो-समझो स्वयं ही !

अब प्रश्न यह होता है कि जैनेन्द्र में कथा-विस्तार के प्रति उदासीनता क्यों है ? उनके मानस की भावशृंखला में कौन-सी कड़ी है जो उन्हें कथा-विस्तार के मार्ग पर जाने से रोकती है ? हमारी समझ में यह उनके जीवन पर जैन-दर्शन का प्रभाव है। जैनेन्द्रजी जैन-धर्मावलम्बी होते हुए भी जैन-दर्शन के सारे सिद्धान्तों को नहीं मानते; परन्तु जैन-दर्शन का संस्कार उनके हृदय पर हो, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं। जैन-दर्शन का सिद्धान्त है कि 'अनन्तधर्मकं वस्तु' अर्थात् "कोई वस्तु अपने धन और ऋण-भावात्मक गुणों के कारण ही अपने वास्तविक रूप में है।" मान लीजिये, एक आदमी है, उसका विशिष्ट शारीरिक संगठन, कद, रंग, परिवार, वजन, शिक्षा और संस्कार ये धन-गुण हैं; ऋण-गुण वे हैं जो उसे बताते हैं कि वह क्या नहीं है। मनुष्य को ठीक तरह से समझने के लिए जानना पड़ेगा कि वह यूरोपियन या भारतीय या मुसलमान नहीं है; स्वार्थी, मूर्ख और बेईमान नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि कोई वस्तु, यदि उस पर हम सूक्ष्म रूप से विचार करें, बुद्धि के अतीत हो जाती है। अतएव जैन-दर्शन कहता है कि जो मनुष्य एक वस्तु को जान लेता है, वह सब-कुछ जान लेता है। जिसके सामने पिण्ड स्पष्ट है, उसके लिए ब्रह्माण्ड भी खुला है और इस पिण्ड में ब्रह्माण्ड वाला ज्ञान केवल केवली को ही सुलभ है।

जैनेन्द्र के ही शब्दों में इस सिद्धान्त को सुनिये—"यह तो साफ है कि पैमाने किसी वस्तु को नाप कर खत्म नहीं कर सकते, यानी सब तरह से उसे पूरी तरह नाप नहीं सकते। वस्तु की अगणित सम्भावनाएँ हैं जो पैमानों की पकड़ में नहीं आतीं। इस तरह हरएक चीज नाप-तोल के बाहर भी रह जाती है, नाप में वह नहीं, हमारी बुद्धि नपती है। मेज जब तक मेज है, तब तक तो आसान चीज है ; पर जब उसको विशिष्टता में न देखकर उसकी साधारणता में उसे देखना चाहते हैं तो मालूम होता है कि मेज उतनी सरल-सी चीज नहीं है। उसकी निगाह में मेज जरा देर में मेज तक नहीं रहती, वह लकड़ी हो

जाती है। लकड़ी पदार्थ हो जाती है, पदार्थ तत्त्व हो जाता है और इस तरह जो अभी मेज थी, देखते-देखते वह अणुओं का स्तूप बन जाती है और आगे चलें तो कुछ नहीं रहता, मेज हम ही हो जाते हैं।" इस अवतरण से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि जैनेन्द्र के मतानुसार दुनिया को, उसके निगूढ़ सत्य को समझने के लिए, आकाश-पाताल एक करने की जरूरत नहीं; हमारा सारा कार्य-व्यापार उसी सचाई तक पहुँचने का प्रयत्नमात्र है। यदि उपन्यास के मार्ग से ही उसमें उस सचाई को छूना तय पाया तो किसी लम्बी-चौड़ी कथा की क्या आवश्यकता है। माना कि उपन्यास में कथा का आधार आवश्यक है, तो एक छोटी-मोटी साधारण-सी बात ले लो और उसे ही आँखों में आँसू और दिल में दर्द भर कर देखो। वही तुम्हारे जीवन के सारे रहस्यागार को खोलकर रख देगी। वास्तव में लेखक के हृदय से रस का निर्झर सदा निस्सृत होता रहना चाहिए। वह है तो देखने में साधारण और अनुपयोगी, फिर भी एक साधारण बिरवा भी उसके सम्पर्क से कल्पतरु बन जा सकता है और उसमें अपने मनोवांछित फल देने की सामर्थ्य भी आ सकती है।

हाँ, तो हमने ऊपर कहा कि जैनेन्द्र की कथा-वस्तु सदोष है; परन्तु साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि उपन्यास की जो गाड़ी एक सीमित और निर्दिष्ट सीमा के अन्दर ही घूम रही थी, उसके बन्धनों को तोड़कर उन्होंने वहाँ से उसे जीवन के विस्तृत क्षेत्र में ला रखा। उन्होंने हमें सिखलाया कि केवल घटनाओं की शृंखला खड़ी कर देना, एक-एक ब्यौरा भर कह देना सच्ची उपन्यास-कला नहीं है। यह तो एक इतिहास-लेखक या प्रेस-रिपोर्टर का काम हो सकता है। उपन्यास-कला घटना और दृश्य का वर्णन तो करती है, पर महज एक तटस्थ दर्शक की भाँति नहीं, जिसका उन घटनाओं और दृश्यों से कोई खास सम्बन्ध न हो; वह अपने उपन्यास की प्रत्येक घटना को अपने पात्रों की आँखों से देखता है और यही कारण है कि वे घटनाएँ हमारे सामने जीती-जागती और हँसती-खेलती आती हैं। 'त्यागपत्र' हम उठाते हैं और मृणाल के प्रति हमारे हृदय में अच्छे भाव नहीं रहते; पर जब हम उसके सामने आते हैं, हृदय को मरोड़नेवाली उसकी व्यथाभरी बातें सुनते हैं, तो हम उससे आँखें नहीं मिला सकते। उस घटना के प्रवाह से हम इस तरह से प्रभावित हो जाते हैं कि हमें अपने अस्त्रों को डाल देना पड़ता है और परिस्थिति को सहज भाव से अंगीकार करते ही बनता है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें कुछ पता चलता है कि जैनेन्द्र ने किस प्रकार हिन्दी के औपन्यासिकों के लिए एक नये मार्ग का उद्घाटन किया है, किस प्रकार

उन्होंने हमारे औपन्यासिकों को कथक्कड़ी प्रवृत्ति से छुड़ाया है। हम जान गये हैं कि उन्होंने उपन्यास के कथाभाग के महत्त्व को तो घटाया, पर साथ-ही-साथ कथा कहने की कला की परिधि को आगे भी बढ़ाया। उन्होंने बताया कि कथा कहने का एक नया ढंग हो सकता है और वह यह कि हम पात्रों की मानसिक स्थिति में अपने को रखें, घटनाओं को उसी दृष्टि से देखें, जिस दृष्टि से पात्र देखते हैं, जिस तरह पात्रों को वे दिखलाई पड़ती हैं और उसी तरह पाठकों को भी दिखा दें। इसका परिणाम यह होगा कि कथा और उसके पाठकों में सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा।

'त्यागपत्र' जैनेन्द्रजी का तीसरा उपन्यास है। आज तक उनके जितने उपन्यास निकले हैं, उनमें 'त्यागपत्र' का विशिष्ट स्थान रहेगा। 'परख' और 'सुनीता' के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम एक नवीन औपन्यासिक के सम्पर्क में आये हैं—वैसा औपन्यासिक जो रूढ़ियों का कायल नहीं है; जिसके पात्र, वातावरण और कथा-वस्तु अन्य औपन्यासिकों से भिन्न हैं; मानो वह कथा कहकर हमें उलझाये नहीं रखना चाहता, पर जीवन की गहराई दिखाकर कहना चाहता है कि देखो, यह जीवन कितना सरल, स्वच्छ तथा साथ ही कितना गम्भीर और रहस्यमय है। पर, 'परख' और 'सुनीता' तक लेखक से कथा का मोह नहीं छूट पाया है। जहाँ तक कथा का सम्बन्ध है, 'परख' में मामूली-सी कथा है जिसको थोड़े से उलट-फेर के साथ बहुत-से लेखकों ने कहा है। हिन्दी-कथा-साहित्य के सम्बन्ध में एक दोष बतलाया जाता है कि हिन्दी के कहानीकारों की दृष्टि स्त्री-पुरुष के प्रणय-सम्बन्ध के सिवा कहीं जाती ही नहीं। विज्ञान के हैरत-अंग्रेज आविष्कारों ने हमारे सामने कितना बड़ा रहस्यागार उपस्थित किया है, जिन्हें हम साहित्य में स्थान देकर उसे समृद्ध कर सकते हैं; पर हमारे लेखक उसी पुरानी आशिकी और माशूकी के चक्कर में पड़े हुए हैं। यद्यपि 'परख' के पढ़ने से हम इतना अवश्य अनुभव करते हैं कि हम हैं तो इसी दुनिया में, इसी पृथ्वी पर; परन्तु यहाँ के निवासियों के स्वभाव में कुछ-कुछ भिन्नता आ गयी है। बोतल तो वही पुरानी है, पर उसमें जो शराब है वह दूसरी है; नहीं, वह अवश्य पहलेवाली से अधिक चड़चड़ाहट लिये हुए है। कट्टो और बिहारी के आध्यात्मिक विवाहवाले प्रसंग को देखकर तो यह भी कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र अभी प्रेमचन्दजी के शिष्यत्व से मुक्त नहीं हो सके हैं और उनके आदर्शवाद का उनपर काफी प्रभाव है। कट्टो के सामने सेवा-सदन की सुमन सदा वर्तमान रही है, सुमन को कोठे पर बिठाकर भी उसे शारीरिक कलुष से पाक रखने और उसके बाद देश-सेविका के रूप में दिखलानेवाली बात

को सामने रखिये और फिर 'परख' के आध्यात्मिक प्रसंग पर विचार कीजिये। आप दोनों के मूल में एक ही प्रेरक भाव पायेंगे।

'सुनीता' में जैनेन्द्र की विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो चली हैं। इस उपन्यास का सारा कलेवर एक रहस्यमय वातावरण से ओत-प्रोत है। पात्रों के क्रिया-कलाप को देखने से पता चलता है कि वे इतने ही नहीं, जितने कि देखने में मालूम पड़ते हैं; वे अपने व्यवहार और वाणी से कहीं गूढ़ और ऊँचे हैं। फिर भी कथा की एक पतली डोर अवश्य है जो अथ से इति तक उपन्यास की एकता को बनाये रखती है, हालाँकि इतना अवश्य है कि कथासूत्र से होकर जीवन की आन्तरिकता ही अधिक उभरी हुई मालूम पड़ती है।

पर 'त्यागपत्र' में आकर लेखक का मार्ग स्पष्ट हो गया है। कथक्कड़ी प्रवृत्ति से उसका नाता टूट चुका है। कथा को वह गौण वस्तु समझने लगा है और जीवन के प्रति सच्चे दृष्टिकोण को प्रधानता देने लगा है। उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख हो उठी है। आज की सारी व्यवस्था और संगठन के मूल में कुछ गड़बड़ी पैदा हो गयी है, जिसके कारण मनुष्य अपने स्वाभाविक विकास की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकता। विधि और निषेध की दवाओं ने हमारे अन्दर एक ऐसा मानसिक शैथिल्य पैदा कर दिया है कि हम स्वच्छन्दतापूर्वक समस्याओं पर विचार भी नहीं कर सकते। 'त्यागपत्र' के लेखक की यह घोषणा है कि जरा आँखें खोलकर देखो, इस तरह से आँखें मूँदकर चलने से तुम अपनी ही जड़ में कुल्हाड़ी मार रहे हो।

'त्यागपत्र' दो विपरीत विचारधाराओं का सजीव चित्रण है। प्रमोद सभ्यता, संस्कृति की बनी-बनायी दुनिया की व्यवस्था में विश्वास करनेवाला व्यक्ति है। जीवन की ओर देखने के लिए और उसके मूल्यांकन के लिए उसके पास एक मापदण्ड है, जिसके सहारे वह हरएक चीज की कीमत पहचानता है। उसके जीवन में स्थिरता है, उसके संसार में सारे आदर्श स्थिर हैं।

मृणाल इन सब बातों में भिन्न है। उसका निर्माण लेखक ने दूसरे प्रकार के उपकरणों से किया है। उसके सोचने-विचारने का ढंग, प्रमोद से भिन्न है। उसे दूसरों के बताये मार्ग पर हरा चश्मा लगा कर संसार को रंगीन देख लेने भर से सन्तोष नहीं। वह स्वयं अपना पथ निर्माण करेगी, उसे अपनी ही आँखों से देखेगी और उसे अपने ही पैरों चलकर, बैसाखी लगाकर नहीं, तय करेगी। मानवता का मौलिक आधार ही उसका एकमात्र संबल रहेगा। उसे आँखें खोलकर देखने से बढ़कर आँखें मींचकर देखना अधिक पसन्द है। वह बीसवीं सदी की एक जागृत महिला है। जागृत से अर्थ स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा

प्राप्त करना नहीं, पग-पग पर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करनेवाली या लिपस्टिक, पाउडर और नेल-पालिश को ही सर्वस्व समझनेवाली महिला से नहीं। उसकी शिक्षा कुछ अधिक नहीं। फैशन नाम की चीज उसके पास से होकर गुजरी तक नहीं है। पर जन्म से ही मानो वह अपने हृदय में मनस्विता लेकर पैदा हुई है। दूसरी ओर है वही प्रमोद, जिसकी विशेषताओं का ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। इन दोनों के पारस्परिक मानसिक संघर्ष, एक पर दूसरे की प्रतिक्रियाओं, उनके हृदय की अन्तर्व्यथाओं तथा पीड़ा के सजीव चित्र ही 'त्यागपत्र' की आत्मा है।

हमारे पूर्वजों में शुतुर्मुर्गी ग्रंथि (Concealment Complex) थी। वे अप्रिय बातों पर पर्दा डालकर चलना चाहते थे, मानो उनके तिरस्कार-मात्र से, उनके आँखें बन्द कर लेने भर से, उनकी हस्ती भी मिट जाती है। प्रेमचंद तक साहित्य में यही प्रवृत्ति काम कर रही थी। मानव को उसके स्वस्थ, नग्न और निरावरण रूप में देखने का साहस हममें नहीं था। 'त्यागपत्र' ने इस ओर सर्व-प्रथम पैर बढ़ाया है। निस्सन्देह 'त्यागपत्र' हिन्दी-उपन्यास-जगत् में पथ-चिह्न है।

'त्यागपत्र' एक ट्रेजेडी है—वज्रहृदय को भी हिला देनेवाली ट्रेजेडी। मृणाल की नियति की कुटिलता को जरा देखिए। ट्रेजेडी उसके अनाथ होने में नहीं, उसके जीवन में रोटियों के लाले पड़ने में नहीं, उसके तिल-तिल कर मरने में नहीं, बल्कि पति के प्रति समर्पित होकर जीवन व्यतीत करने के कारण पति की उपेक्षिता हो नारकीय जीवन को स्वीकार कर लेने पर बाध्य होने में है। परिस्थितियों के नीचे दबकर कब्र में चला जाना तो कुछ नहीं; पर परि-स्थिति के चक्कर में पड़कर, एक सती-साध्वी स्त्री का अपवित्र वेश्या-जीवन की भयंकर यंत्रणा को स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना—यह आत्मा की ट्रेजेडी है। टामस हार्डी के उपन्यासों का एक प्रसिद्ध आलोचक 'टेस' के बारे में कहता है, "To be cursed to death by lead or grief is nothing, for a 'pure woman' to be cursed into impurity—then is a soul's tragedy that has no equal in horror." ये पंक्तियाँ शत-प्रतिशत मृणाल के सम्बन्ध में लागू हो सकती हैं। सचमुच 'त्यागपत्र' मानव-आत्मा की एक बहुत बड़ी ट्रेजेडी है।

मैंने 'त्यागपत्र' को हिन्दी-उपन्यासों के इतिहास में एक सीमा-चिह्न कहा है। मतलब यह कि प्रत्येक दृष्टि से, चाहे उपन्यास की मौलिक प्रेरणा में, चाहे उसकी अभिव्यक्ति के ढंग में, जैनेन्द्र एक नूतन दिशा की ओर अग्रसर होते

हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

'त्यागपत्र' में दर्शनीय बात यह है कि यह पुस्तक 'प्रथमपुरुष' में लिखी गयी है। प्रमोद, जो आगे चलकर न्यायाधीश के पद पर आसीन होता है, उपन्यास का पात्र है। कथा के स्वरूप-संगठन में भी उसका हाथ है और उसी की आत्म-कहानी के रूप में वह लिखी गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कारण पुस्तक में अधिक सजीवता आ गयी है। दूसरी बात यह कि पुस्तक को जज साहब की डायरी से ज्यों-की-त्यों उद्धृत बताकर इस कथा को अधिक यथार्थ-वादी बनाने का प्रयत्न किया गया है। ये दो तरीके—अर्थात् पुस्तक को प्रथम-पुरुषात्मक बनाना और इसे एक जजसाहब की डायरी से उद्धृत बताना, है तो बहुत ही साधारण, पर इनकी वजह से उपन्यास हमारे हृदय के बहुत समीप आ गया है। जीवन बहुत ही गूढ़ है। मनुष्य के सारे कार्य-व्यापार और व्यवहार उसके रहस्योद्घाटन के लिए होते हैं। चाहे संगीत के द्वारा ताल और स्वर से समझें या ज्यामिति की रेखाओं के द्वारा, दर्शन के बड़े-बड़े सिद्धांतों के अध्ययन से, चाहे उपन्यासों की कथाओं के द्वारा। पर सबके मूल में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। हम उपन्यास द्वारा भी जीवन के इसी सत्य को पाना चाहते हैं। पर जहाँ औरों का सत्य अधिक गरिष्ठ होता है, उसे पा लेना कष्टसाध्य होता है, वहाँ उपन्यास उसी को अधिक सरस, सुपाच्य और ग्राह्य बनाकर हमारे सामने रखता है और हमारे हृदय में एक नूतन संस्कार सहज ही उत्पन्न कर जाता है। औपन्यासिक का कर्तव्य है कि वह उपन्यास को सहज और ग्राह्य बनाने में सहायक परिस्थितियों की कुशल आयोजना करे। जैनेन्द्र इस ओर सचेत और सचेष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

हिन्दी में एक और उपन्यास है जिसमें पाप और पुण्य के असली स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है—वह है भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा'। निस्सन्देह वह भी एक क्रान्तिकारी और बड़ा ही जोरदार उपन्यास है। पर एक तो उसमें वही पुराना वर्णनात्मक प्रेमचन्दी ढंग है। दूसरी बात यह है और इससे ही मेरा मतलब यहाँ पर है कि इसमें वह स्वाभाविकता नहीं, सहजता नहीं जो 'त्यागपत्र' में है। 'चित्रलेखा' में पग-पग पर आयी हुई पाप-पुण्य, सुख-शान्ति और वासना-प्रेम की विस्तृत और ज्ञानभरी गरिष्ठ व्याख्याओं के सामने भोले-भाले पाठक का हृदय आतंकित हो जाता है और ऐसा मालूम होता है कि जो बात लेखक देना चाहता है, वह इन दार्शनिक विवादों की लच्छेदार वाक्यावलियों के ऊपर ही टँगी रह जाती हैं और वे हमारे हृदय की तह में प्रविष्ट हो हमारे जीवन का अंश नहीं बन पातीं। सब परिच्छेद दार्शनिकता की गूढ़ता लिये हुए

हैं। उदाहरण के लिए पाँचवाँ परिच्छेद ले सकते हैं। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद के विशाल प्रांगण में दर्शन पर तर्क करने के लिए योगी, यति और तपस्वीगण उपस्थित हैं। यहाँ दर्शनशास्त्र के वाल की खाल निकालनेवाली "घृताधारे पात्रम् वा पात्राधारे घृतम्" वाली उक्तियों का जमघट है। तो इसके पक्ष में कहा जा सकता है कि यह तो सभा ही दर्शनशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिए बुलायी गयी थी। पर कुमारगिरि का तपस्याजनित चमत्कारपूर्ण मर्म साधारण पाठक के हृदय में आतंक भले ही पैदा करे, चमत्कार की सृष्टि भले ही करे, विश्वास पैदा नहीं कर सकता। "लोगों ने देखा कि योगी कुमारगिरि जहाँ खड़े थे, उसी के पास यज्ञ-वेदी से एक अग्निशिखा निकली और वह शिखा प्रजा-मंडल की छत की ओर बढ़ने लगी। उस अग्नि-शिखा का प्रकाश ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रकाश से कहीं अधिक तीव्र था। छत पर पहुँच कर वह उसको भेद गयी और आकाश की ओर बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह पतली-सी अग्नि-शिखा आकार में बढ़ने लगी और उसका प्रकाश इतना तीव्र हो गया कि लोगों के नेत्र उस प्रकाश को न सह सकने के कारण बंद होने लगे। पर आश्चर्य की बात यह थी कि उस अग्नि-शिखा में ताप न था, प्रकाश था। कुमारगिरि ने कहा—'यह सत्य है।' चाणक्य चिल्ला उठे—'योगी, तुम झूठ बोलते हो। वहाँ तो कुछ नहीं है।' इस बार लोगों ने चाणक्य की ओर आश्चर्य से देखा। योगी कुमारगिरि ने कहा—'क्या वयोवृद्ध मन्त्री सत्य के प्रकाश को नहीं देख सकते?' चाणक्य ने कहा—'कैसा प्रकाश? वहाँ तो कुछ नहीं है?'

कुमारगिरि ने चाणक्य को कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने फिर कहा—'अरे देखो!' इस बार अग्नि-शिखा धुँधली होने लगी और अग्नि-पुंज में परिणत हो गयी। उस अग्नि-पुंज में लोगों ने अनेक प्राणी देखे, जो उसीमें एक ओर निकलते थे और दूसरी ओर लोप हो जाते थे। उसी अग्नि-पुंज में लोगों ने विशाल नगर बनते और नष्ट होते देखे। उन्होंने पृथ्वी, जल, वायु तथा आकाश देखे। धीरे-धीरे यह सब लोप होता गया और अग्नि-पुंज रह गया। उसी तरह अपनी विराटता, अलौकिकता के लिए 'चित्रलेखा' के बारहवें परिच्छेद का "बीजगुप्त का यशोधरा से महाप्रभु रत्नाम्बर के साथ हिमालय के पार्वत्य प्रदेश की हैरतअंगेज घटनाओं का वर्णन" वाला प्रसंग लिया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ 'चित्रलेखा' गूढ़ है, गरिष्ठ है और प्रयत्नसाध्य है, वहाँ 'त्यागपत्र' सरल है—सहज है, बोधगम्य है और हार्दिकता से ओतप्रोत है। उसे पढ़ने से कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि लेखक हमारे अनिच्छुक मस्तिष्क

में पाप-पुण्य-सम्बन्धी व्याख्या उतारना चाहता है । 'त्यागपत्र' पढ़कर हमारी जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं की नींव हिल जाती है, हममें एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण पैदा होता है; पर नन्दन-निकुंज के करील की तरह लेखक का रूक्ष व्यक्तित्व, उसकी प्रयत्नसाध्यता हमारी आँखों से ओझल ही रहती है । यही 'त्यागपत्र' की श्रेष्ठता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि जो लेखक अपनी रचनाओं में अपने व्यक्तित्व को जहाँ तक छिपाये रखता है, उसी हद तक वह श्रेष्ठ कलाकार है । परमात्मा की नानारूपधारिणी प्रकृति में तो हम प्रकृति को ही अपने सामने पाते हैं, स्वयं वह तो छिपा ही रहता है न !

जैनेन्द्र का विचार करने का ढंग संश्लेषणात्मक है, विश्लेषणात्मक नहीं । वे किसी समस्या पर विचार करते समय उसे परिपार्श्विक स्थिति से तोड़कर देखना नहीं चाहते, उसे जीवन के प्रवाह के गतिमान रूप में ही देखते हैं । यही कारण है कि आज के युग में, जबकि मनोविश्लेषणवादियों (Psycho-anlaysts) की तूती बोल रही है, साहित्य में, विज्ञान में, जहाँ भी देखिये, वहाँ ही उनका दबदबा है । जैनेन्द्र अपने को उनसे अलग पाते हैं । यह भी क्या है कि प्याज के छिलके की तरह जीवन की तहे-पर-तहें उघारते चले जाओ, पर अन्त में हाथ लगे कुछ नहीं । माना कि अर्द्धचेतन और अचेतन का हमारे जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है, हमारे कार्यकलाप के मूल में उन्हीं की प्रेरणा काम करती है; पर वह हमारे किस काम का जिसके द्वारा हमें जीवन में समाधान देनेवाली अन्दरूनी ताकत पैदा नहीं होती ? हम अपने अन्दर एक ऐसी शक्ति का अनुभव नहीं कर पाते जिसको पाकर एक-एक गेंद पत्थर पर पटका जाकर भी उछलता-कूदता रहता है । वह शक्ति हमारे अन्दर जब तक पैदा नहीं होती, सारे सिद्धान्त और वाद व्यर्थ की बकवास हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अब तक जितने सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, वादों का आविष्कार हुआ है उनसे जीवन-प्रवाह को एक तंग नाली में प्रवाहित कर देखने का प्रयत्न किया गया है, उनके सतत प्रवहमान निर्झर रूप को देखने की कम चेष्टा हुई है । यही कारण है कि जैनेन्द्रजी को हम किसी वाद के पक्ष में नहीं पाते । आधुनिक युग के 'प्रगतिवादी', जो रोटी और पेट को ही जीवन का चरम-तत्त्व समझे बैठे हैं, उनसे भी जैनेन्द्र अलग ही श्रेणी में आते हैं ।

करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि कलाकार अपनी कला के द्वारा अपने अन्तस् को ही, अपने आप को ही छन्दोमय करने का प्रयत्न करता है (छन्दोमयमात्मानं कुरुते)। यदि साहित्य को, जिसका उपन्यास एक प्रमुख अंग है, कला की श्रेणी में ही रखें तो यह निश्चित है कि उसके जीवन के छन्द को, उसकी विचारधारा को, उस अन्तर्मूलक प्रकृति को, जो उसके कार्यकलाप को रूप देती है, हम वहाँ पायेंगे ही। क्योंकि उपन्यासकार वही सफल हो सकता है, या उसी अंश में सफल होता है जिस अनुपात में वह अपने पात्रों के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित कर सका है अथवा अपने पात्रों में प्रवेश कर स्वयं बोल सका है। जैनेन्द्र के या किसी भी लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जीवन की किसी भी समस्या, छोटी या बड़ी, के प्रति उसका रुख क्या है, यदि यह हम जान जाते हैं, तो यह पता चलाना कठिन नहीं है कि दूसरी समस्याओं के साथ उसका व्यवहार किस तरह का होगा। मान लीजिये कि हमने एक लेखक की रचनाओं के सहारे यह पता चलाया कि समाज की निरंकुश सत्ता में उसका विश्वास नहीं। जब-जब उसके पात्रों के वैयक्तिक जीवन और सामाजिक आदर्श में संघर्ष हुआ है, उन्होंने समाज को ठुकरा दिया है, तब हमें यह जानने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी कि धर्म के प्रति, विवाह के प्रति, ईश्वर के प्रति तथा अन्यान्य समस्याओं के प्रति उसके हृदय में किस तरह की प्रतिक्रियाएँ होंगी, अर्थात् इन समस्याओं पर विचार करने के समय उसका क्या दृष्टिकोण होगा। पन्तजी की एक कविता है :

> "जीवन के नियम सरल हैं
> पर हैं अति गूढ़, सरलपन
> है कठिन—
> मुक्ति का बन्धन।"

युद्धोत्तरकालीन यूरोप में जब हमारे प्राचीन, सुदृढ़ और अटूट समझे जाने वाले विश्वास चकनाचूर हो रहे थे, जिन्हें हमने जीवन की आधारशिला समझ रखा था, वे डगमग हो रहे थे, उस समय वहाँ के उपन्यासकार इस बात को जानने के लिए सचेष्ट थे कि व्यक्ति के जीवन के लिए कोई सुदृढ़, सुनिश्चित या ठोस भूमि कौन-सी है जिस पर वह अपना पैर जमा सके। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप वहाँ वर्जीनिया उल्फ, जेम्स जॉयस और डी० एच० लारेंस जैसे प्रमुख औपन्यासिकों का उदय हुआ। मैं पहले यह बता चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्य में १६१८ के बाद जितने साहित्य का प्रणयन हुआ है, सबको युद्धोत्तर-

कालीन साहित्य की श्रेणी में रखना भ्रामक है। यह भी बतलाया जा चुका है कि जैनेन्द्र को सच्चे और वास्तविक अर्थ में युद्धोत्तरकालीन लेखक कहा जा सकता है। अतएव यूरोप के युद्धोत्तरकालीन लेखकों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में मिलें तो यह स्वाभाविक ही है।

आधुनिक, अर्थात् युद्धोत्तरकालीन, यूरोपीय साहित्य में दो प्रवृत्तियाँ काम करती हुई दिखलाई पड़ रही हैं—१. बुद्धिवाद, और २. प्रवृत्तिवाद। बुद्धिवादी विचारक अपनी बुद्धि के द्वारा जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनका विश्लेषण करता है तथा तटस्थता से अपने निर्णय में भावनाओं तथा रूढ़िमूलक भावों को हस्तक्षेप नहीं करने देता। वह निर्भय होता है, हृदय-पक्ष की ओर से वह सदा उदासीन रहता है। शॉ के नाटकों में प्रधानतः 'मैन एंड सुपरमैन' और 'सेंट जोंस' में हम इस प्रवृत्ति का कुछ आभास पाते हैं जहाँ पर हमारी प्राचीन रूढ़िमूलक धारणाएँ एकदम झकझोर दी जाती हैं, जहाँ हमारी प्राचीन महिलाओं के पतिव्रत धर्म (Chastity) को बालिकोचित अहंभाव (girl's vanity) कहकर पुकारा जाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

'परख' जैसे उपन्यास के लेखक कट्टो और बिहारी के आध्यात्मिक विवाह के स्रष्टा जैनेन्द्र से हम बुद्धिवादी साहित्य के प्रणयन की आशा नहीं कर सकते। यदि लेखक का दृष्टिकोण बुद्धिवादी का होता और वह बुद्धि के सहारे ही जीवन-लाभ और हानि, सुख और दुख के terms में जीवन-यापन को मुख्य समझता होता, तो क्या 'त्यागपत्र' की मृणाल को तिल-तिल कर उस सड़ाँध में प्राण-त्याग करने की नौबत आती? उसका भतीजा जज था, साधन सम्पन्न था, समाज में प्रतिष्ठित था, लेकिन फिर भी मृणाल उसके नियंत्रण पर समाज में जाकर प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करना नहीं चाहती। क्या यही उसकी बुद्धि-वादिता है? यदि कल्याणी हो या हरिप्रसन्न, अपनी बुद्धि का थोड़ा-सा भी आश्रय लेते तो उनके जीवन में इतनी विडम्बना होती? अतएव जैनेन्द्र तो बुद्धिवादी साहित्यिक की श्रेणी में आ ही नहीं सकते। 'कल्याणी' नामक उप-न्यास जैनेन्द्र ने प्रथम पुरुष में लिखा है। अर्थात् लेखक उपन्यास का एक पात्र हो गया है। कल्याणी एक विचित्र महिला है, उसे ठीक-ठीक समझ लेना सहज नहीं है। लेखक कल्याणी को लेकर विचार करता हुआ एक जगह कहता है—"तर्क सचाई को लपेट नहीं पाता है। फिर भी तर्क, तर्क होने के सबब, लाचार हो वही करना चाहता है। वह वास्तविकता को आयत्त करना चाहता है। मन से उठ-उठ कर कल्पनाएं दौड़ती हैं और अपने तन्तुओं में लपेट कर मानो सत्य को बुन लेना चाहती हैं। पर मानव का यह भ्रांत प्रयास है। समझना कभी पूरा

नहीं हो सकता...जो है, वह समझ से ऊपर है। सत्य अहंरूप नहीं है और जानना सब अहंरूप है। इसका अर्थ यह नहीं कि इन्होंने बुद्धि को एकदम तिलांजलि ही दे दी है; बुद्धि का, reason का, तर्क का, उनके यहाँ कुछ महत्त्व नहीं है। पर हाँ, इतना अवश्य है कि वे बुद्धि को ही सब-कुछ नहीं समझते। बुद्धि, केवल निर्मम बुद्धि के सहारे से हम गड्ढे में भी गिर सकते हैं। बुद्धि हमें क्षणिक उत्तेजना प्रदान कर सकती है, हममें जीवन का समावेश-सा भी दिखा सकती है; पर उसके परे भी एक चीज है जिसके सहयोग के अभाव में हमारी सारी उछल-कूद बेकार हो जा सकती है।

दूसरी बात आती है प्रवृत्तिवादियों की। प्रवृत्तिवादी बुद्धि को महत्त्व नहीं देता। उसका कहना है कि हमारी कुछ ऐसी मौलिक प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनका शायद हमें भी पता न होता; उनके ही सहारे, उनके ही इंगित पर जीवन व्यतीत करने पर ही हम सफल हो सकते हैं। यदि हमने उन्हें समाज के विधि और निषेधों से डरकर दबाने की कोशिश की तो वे दबेंगी तो क्या, अचेतन और अर्द्धचेतन मस्तिष्क में जा दुबकेंगी और मौका मिलने पर इतने आवेग के साथ आक्रमण करेंगी कि हमारे सारे जीवन की शृंखला टूटती दिखलाई पड़ने लगेगी। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में, प्रधानतः 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी को देखकर हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र को प्रवृत्तिवादी साहित्यकारों की श्रेणी में रखा है। बात बाह्य दृष्टि से देखने पर ठीक-सी भी प्रतीत होती है। मृणाल अपने पति को छोड़कर कोयलेवाले के साथ रहने लगती है; उस स्थान को छोड़कर फिर अपने समाज में, अपने भतीजे की प्रार्थना पर भी, नहीं आना चाहती। इस बात को देखकर और क्या कहा जाय कि वह एक 'प्रवृत्तियों (Sex instincts) पर नाचने वाले बन्दर' से कुछ अधिक नहीं है। और कल्याणी ही कौन दूध की धुली हुई है। कट्टो और सुनीता में भी प्रवृत्तियों की करामात की कमी नहीं है। अंग्रेज औपन्यासिक डेविड हरबर्ट लारेंस की आलोचना करते हुए बहुत-से आलोचकों ने उन्हें प्रवृत्तिवादी साहित्यकार का फतवा दिया है। पर वास्तव में बात दूसरी है। उनके उपन्यासों में धर्म, जीवन के भीतर नया अर्थ और नये प्राण संचार करने के प्रयास के सिवा और कुछ नहीं है। जनवरी १९४१ की 'विश्वभारती' पत्रिका में डा० ए० एरन्सन का एक लेख प्रकाशित हुआ था, 'युद्धोत्तरकालीन यूरोपीय उपन्यास में धर्म'। इसमें उन्होंने डी० एच० लारेंस के बारे में यों लिखा है, "आध्यात्मिक निष्फलता का बोध करानेवाले आधुनिक औपन्यासिकों के बीच डी० एच० लारेंस ही शायद एकमात्र उल्लेखनीय अपवाद हैं। वही एक प्रतिभासम्पन्न

लेखक है जिसने वर्तमान समाज में ईसाइयत के विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों के ह्रास के आन्तरिक कारणों को समझा है। यह सच है कि जीवन के प्रति केवल आध्यात्मिक रुख रखने में उसका कभी विश्वास नहीं रहा। किन्तु इसमें उसे दृढ़ विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान और बुद्धि मनुष्य को नई दृष्टि और नया मूल्य-विधान देने में सर्वथा असफल रहे हैं। भविष्यवक्ता-जैसी दृष्टि से लारेंस ने इस बात का चित्रण किया है कि यदि मानव-समाज फिर से स्वाभाविक जीवन की ओर लौट सके, अपने अस्तित्व को एक अटूट अविच्छिन्नता के रूप में देखना सीख सके, यदि उसकी 'आत्मा' जीने के भीतर ही जीने की सम्पूर्ण सार्थकता पा सके और सृष्टि की सुश्रृंखला के साथ पारस्परिक संवेदना का नाता जोड़ सके, तो दुनिया कैसी हो जायगी।" लारेंस मूलतः एक धर्म-संस्कारक था। 'द मैन हू डायड' नामक उपन्यास में उसने देह और आत्मा के इसी अभिनव सामंजस्य को व्यक्त किया है। इसकी कहानी ईश्वर अथवा पुण्य के विरोध की कहानी नहीं है; वह धर्म जीवन के भीतर नया अर्थ और नये प्राण संचार करने का प्रयास है। ठीक यही बात अक्षरशः जैनेन्द्र के बारे में लागू हो सकती है। जैनेन्द्र को हम 'हिन्दी उपन्यास-जगत का लारेंस' कह सकते हैं।

जीवन की सहजता और स्वाभाविकता में जैनेन्द्र की अटूट श्रद्धा है। वे इस बात को समझ नहीं सकते कि जीवन की धारा दूसरों की धारणाओं में प्रवाह कर तिरछी और टेढ़ी-मेढ़ी क्यों की जाय? इसी को आधुनिक युग के शब्दों के प्रयोग में हम कह सकते हैं—सत्य और अहिंसा। वास्तव में देखा जाय तो पता चलेगा कि आज का मानव जो त्रस्त है, विश्वव्यापी युद्ध की ज्वाला की लपटों में जल रहा है, वह और कुछ नहीं, केवल हिंसा की लपटें हैं। और जबतक मानव-समुदाय, जो हिंसा के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और स्पर्द्धा के विष को अमृत समझकर पान कर रहा है, वहाँ से नहीं मुड़ेगा तबतक उसका कल्याण नहीं हो सकेगा। जिस तरह साम्यवादियों का विश्वास है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायेंगी जिनके कारण मानव जाति को वाध्य होकर साम्यवाद की शरण लेनी पड़ेगी, ठीक उसी तरह जैनेन्द्र का विश्वास है कि इस संगठित हिंसा पर खड़े समाज को अपनी भूलों के परिणाम से ऊबकर अहिंसक समाज का संगठन करना पड़ेगा। बात है भी ठीक; क्योंकि दार्शनिकों के विवेचन के अनुसार एक चीज को दूसरी चीज से प्रभावित होने के लिए दोनों में गुणों की समानता का होना आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि दोनों में मात्रा का अन्तर हो। रौलर से पत्थर के टुकड़े

चकनाचूर हो जाते हैं सही, पर कारण इसका यह है कि पत्थर के टुकड़ों में भी वही मगरूरी और काठिन्य मौजूद है जो रौलर में विशेष रूप से है। नहीं तो क्या रौलर हवा का कुछ भी विगाड़ सका है। हिंसा से हमारा अनमेल इसीलिए होता है कि मेरे हृदय में भी वही हिंसा कहीं दुबकी पड़ी रहती है। हाँ, अहिंसा को दवाने के लिए और भी ऊँचे दर्जे की अहिंसा की आवश्यकता होगी और इस अहिंसा की वढ़ा-वढ़ी में समाज का सच्चा स्वरूप निखरेगा ही। यही जैनेन्द्र के उपन्यासों का मूल रहस्य है।

जैनेन्द्र के संवंध में, डी० एच० लारेंस की तरह ही कहा गया है कि वे प्रवृत्तिवादी हैं, जीवन में instincts (प्रवृत्तियों) का उनके यहाँ वहुत ही वड़ा महत्त्व है। कहा जाता है कि जैनेन्द्र की दृष्टि वहुधा जीवन के उन्हीं कोनों की ओर जाती है जो दुर्गन्धयुक्त हैं, जहाँ कूड़ा-करकट भरा पड़ा है, और वे वहीं से सामग्री जुटाकर अपने साहित्य की रचना करते हैं, जिससे समाज में विशृंखलता पैदा होने की संभावना रहती है। पर वात कुछ दूसरी ही है। जैनेन्द्र मानव की प्रवृत्तियों में विश्वास तो करते हैं, पर विशेषत: उसकी Divine instincts में। मानव प्राणी तो है, पर एक विशिष्ट प्राणी है। इस विशिष्टता के कारण ही उसमें मनुष्यता का समावेश है। इसी विशिष्टता की चिनगारी अहर्निश उसके अन्दर जलती रहती है। यह वात दूसरी है कि वह एक क्षण वाहरी राख के नीचे दुवकी पड़ी रहे; पर अवसर पाते ही वह अपनी झलक से मानव-हृदय को उद्भासित कर ही देती है। 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' की चर्चा करना यों आवश्यक हो गया है कि मृणाल के चरित्र की, उसकी मनस्विता को ही लेकर, अधिकतर जैनेन्द्र को प्रवृत्तिवादियों की श्रेणी में रखा जाता है। मृणाल एक मनस्विनी युवती है। वह अपने पति को छोड़कर जाने के लिए तैयार नहीं है। ऊपर से देखने पर हम एक क्षण उस पर कठिन भले ही हो लें, पर उस मूल प्रेरणा की, जो उसके अन्तस् में वैठकर उसकी कुंजी घुमा रही है, झलक पा लेने पर कौन उसके प्रति श्रद्धावनत नहीं हो जाता? वह जानती है कि जिस कोयलेवाले के साथ वह रह रही है, उसका वहुत दिनों तक साथ नहीं देगा। यह उसे अव धीरे-धीरे मालूम हो रहा है। मालूम क्या, वह तो प्रारम्भ से ही जानती थी कि अव उसका नशा धीरे-धीरे उतर रहा है और वह अव उसे छोड़ देगा। इतना जानते हुए भी वह उसका साथ छोड़ने को तैयार नहीं। यह उसके लिए भोग की वात नहीं, त्याग की वात है और त्याग की महत्ता के सामने हमारे तथाकथित त्याग का रंग फीका पड़ जाता है। उसी तरह 'कल्याणी' में भी अनवूझ कल्याणी की सारी पहेलियों के अन्दर हम उसके

इसी त्याग की भावना पाते हैं। जो स्त्री अपने अपवाद और चरित्र-सम्बन्धी अफवाहों को सुनकर भी टस-से-मस नहीं होती, उसे सहज भाव से ग्रहण कर लेती है, उसके अन्दर अवश्यमेव कोई शक्ति विद्यमान है, जिससे वह बल प्राप्त कर रही है और यह बल और कुछ नहीं, वही है जिसे हम आत्म-बल कहते हैं और जिसके सामने और सब बल फीके हैं। कल्याणी के सम्बन्ध में तरह-तरह के अनर्गल प्रलापों को सुनकर एक सज्जन जाते हैं अपना समाधान करने।

वे कहते हैं—"देखता हूँ, आपको लेकर तरह-तरह के वाद सुन पड़ते हैं।"

"कल्याणी—सुन पड़ते हैं न...?...मैं ही नहीं, तब कौन कह सकता है कि वे सब गलत हैं। फावड़ा बनाने के लिए सुई तो चाहिए ही। बेबात भला कोई बात चलती है? आपकी क्या राय है?"

"ऐसी बात कहने के लिए एक विशेष प्रकार के मानसिक, या कहिये आत्मिक, बल की आवश्यकता है जो साधारण मानव में नहीं पाया जाता। 'कल्याणी' में जो कुछ भी हो, पर कथा की, वेदना की कमी नहीं है। कल्याणी को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अपने पतिदेव की आज्ञा का पालन करने में तथा उनके व्यावसायिक षड्यंत्रों में सहायक होना पड़ता है तो यह भी उसके त्याग का ही अंश है। प्रीमियर के स्वागत की सारी तैयारी में भी, जो स्वार्थ की भावना पर टिकी हुई है, वह शामिल हो जाती है तो एक बहुत बड़ी कीमत देकर ही—अपने को मारकर और अपनी आत्मा का हनन कर, अपने पति की रुख की रक्षा भर के लिए। वह उसके त्याग की पराकाष्ठा है। यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि एक साधारण पुंश्चली स्त्री और मृणाल और कल्याणी में महान् मौलिक अन्तर है। प्रथम में भोग है, वासना है, शरीर की पूजा है पर दूसरी में त्याग है, यज्ञ है और शरीर की अवहेलना पर आत्मा के उत्कर्ष का ही उपक्रम है। इसी से कहता हूँ कि जैनेन्द्र को प्रवृत्तिवादियों की श्रेणी में रखने से उनको समझने में एक बड़ी भारी भूल हो जाने की संभावना है। हाँ, हिन्दी में प्रवृत्तिवादी लेखक की श्रेणी में जैसे कथाकार आ कसते हैं सर्वदानन्द वर्मा। उनके 'संस्मरण' और 'नरमेध' में इन्द्रियों की प्रबलता का जो उल्लंग नृत्य हुआ है उसके सामने प्रवृत्तिवादी, मेरा अर्थ यूरोपीय प्रवृत्तिवादियों से है, भी पानी भरते हैं। यहाँ सर्वदानन्द जी के उपन्यासों का विवेचन करना अभीष्ट नहीं है, पर निस्सन्देह सर्वदानन्द और जैनेन्द्र को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सर्वदानन्द जी तथा उनके प्रवृत्तिवादी लेखकगण संगठित परिवार, धर्म तथा समाज की संस्थाओं को तोड़ना चाहते हैं, पर जैनेन्द्र उनको स्वीकार करते हैं, उनको निर्मूल-नेस्तनाबूद करना चाहते हैं, उनके पास समाज-सुधार की कोई

स्कीम नहीं; कोई जादू की छड़ी नहीं जिसके हिलाने मात्र से ही संसार की सारी समस्याएँ हल हो जायँगी। वे केवल उन्हें Revitalise करना चाहते हैं, उन्हें सहज और स्वाभाविक मार्ग पर लाकर उन्हें पुनः जीवित करना चाहते हैं। वे समाज को तोड़ते तो हैं, उसको चोट भी देते हैं, पर उसकी ऊँचाई को ही, गहराई को नहीं। समाज टूटता भले ही दिखलाई पड़े, पर वह अधिक स्थायी भी नहीं होता दीखता क्या? समाज को और भी आध्यात्मिक स्तर पर ऊँचा ले जाकर उसकी जड़ को मानवता के मधुर रस से सींचना ही जैनेन्द्र का उद्देश्य है।

जैनेन्द्र के दृष्टिकोण से परिचित होने के लिए हमारे निकट एक सुविधा है जो अन्य औपन्यासिकों के सम्बन्ध में उनको प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं है। 'प्रस्तुत प्रश्न' के रूप में हमारे सामने एक ऐसी पुस्तक है जिसके अध्ययन से हम लेखक के सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और सैक्स सम्बन्धी समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण को सहज में पकड़ सकते हैं। यहाँ पर मैं एक अपनी बात कहूँ। जब कभी मुझे किसी साहित्यिक मित्र से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है या किसी लेखक की दो-चार रचनाओं को पढ़ने का अवसर मिलता है तो मेरी यही इच्छा होती है कि यह जान सकूँ और जानकर एक शब्द में कह सकूँ कि वह कौन-सी गाँठ है, वह कौन-सी अन्तर्वेदना है जो उसे इतने पन्ने काले करने के लिए बेताब किये रहती है? आखिर वह कौन-सी बेचैनी है, मादकता है जो उसे भरमाये रहती है, लेखक क्यों इतने उपन्यास-पर-उपन्यास उगलता चला जा रहा है, पर फिर भी सुख की साँस नहीं लेता? जहाँ तक जैनेन्द्र के उपन्यासों का सम्बन्ध है वहाँ एक ही बात दिखलाई देगी, वह ही बस दिखलाई देगी, वह यही और कुछ नहीं, उसे एक शब्द में कह सकते हैं—अहंभाव (egoism) के प्रति विद्रोह। जैनेन्द्र के उपन्यास मानो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि जब तक यह मानव इस राक्षस से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकेगा तब तक यह संसार दुःख और दैन्य का क्रीड़ा-स्थल बना ही रहेगा। दुनिया में जितना वैषम्य दिखलाई पड़ता है, जितना हाहाकार दिख-लाई पड़ता है, जितनी छीना-झपटी और मारकाट दिखलाई पड़ती है, यह सब इसी अहंभाव के चलते। जैनेन्द्र कहते हैं कि चाहे लाख सिर मारो, त्याग करने का ढोंग करो, देश और धर्म के नाम पर चाहे जेल भले ही चले जाओ, तुम्हारी देह दूसरों की श्रद्धास्वरूप दी गई मालाओं से लद भले ही जाय, लेकिन तुम्हारे अन्दर की भूख को उससे शान्ति नहीं मिलेगी और वही आस्तीन का साँप बन-कर मौका पाकर तुम्हारे जीवन-रस को विषाक्त कर देगी।

'कल्याणी' उपन्यास के पात्रों को देखिये। कल्याणी कौन-सा त्याग नहीं करती। वह पति की इच्छाओं पर आत्म-समर्पण कर देने के लिए तैयार है, वह अपने पति के इशारों पर नाचती है। पति भी क्या कम त्याग करता है कल्याणी के लिए। जीवन की जो कुछ सुविधाएँ हो सकती हैं, बहुत-कुछ Sacrifice करके भी उन्हें देने के लिए उत्सुक हैं। कल्याणी भी अपने पति के प्रेम की बात से अनभिज्ञ हो, सो बात नहीं। वह भी कितने अवसरों ही पर हृदय में कृतज्ञता के भाव भर कर कहती है कि "मेरा ध्यान उनसे दूर नहीं। वह मुझसे प्रेम करते हैं।" पर इतना होने पर भी कल्याणी के जीवन में ट्रेजेडी इसीलिए होती है कि वहाँ के पात्र सब-कुछ करके भी अहं-भावना से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सके हैं। उनके हृदय की तह में कहीं-न-कहीं 'अहं' दुबका झाँक ही रहा है।

डाक्टर असगरानी अपने मन से इस बात को कभी भी दूर नहीं कर सकते कि उन्होंने कल्याणी से विवाह कर उसका उद्धार किया है, उसे बचाया है, वे न होते तो उसे जीने को भी ठौर नहीं था। अतएव उनका अधिकार है कि कल्याणी को अपने स्वार्थ-साधन के लिए जिस रूप में चाहें प्रयुक्त कर सकें। कल्याणी बेचारी हर तरह उनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध रहती है; कहें तो डाक्टरी करके उनके पास पैसे का स्तूप खड़ा कर दे, या कहें तो एक सच्ची पतिव्रता रहकर उनके अन्तःपुर की शोभा बढ़ाये; पर इतना होते हुए भी बीच-बीच में ऐसी बातें करती है या ऐसा व्यवहार करती है जिससे स्पष्टतः ध्वनित होता है कि वह उनकी मातहत नहीं, यद्यपि वह सारे कार्य कर रही है पर उनमें उसकी आत्मा का सहयोग नहीं, लाचारी की बात है। मन्दिर के ट्रस्ट की बात में डाक्टर भी अनुमति दे देते हैं पर उनके अहंभाव को उससे चोट पहुँचती है; मन-ही-मन वह सोचते हैं कि उनकी आज्ञाओं का पालन न करके उनकी बातों को निबाहने भर का प्रयत्न किया गया है। इधर कल्याणी भी यही सोचती है कि अवश्य मेरे-जैसे अयोग्य व्यक्ति को स्वीकृत कर पति ने बड़ी कृपा की है पर उसने एक बात नहीं की है और वह है आत्म-समर्पण; अपनी इच्छाओं को उसने मेरी इच्छाओं के साथ मिला नहीं दिया है; दो के बीच में 'अहं' ने आकर जो पार्थक्य उपस्थित कर दिया है उसी के कारण दोनों में द्वन्द्व है। यह सारे मानव-समुदाय की समस्या है जो छोटे-से पैमाने पर कल्याणी के जीवन में आकर उसे तथा डाक्टर को भरमा रही है। इसी बात को जैनेन्द्र के शब्दों में सुनिये : "तभी तो जगत् का नाम द्वन्द्व है। द्वन्द्व के माने हैं—दो के बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अथवा अनेक के, बीच

एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।"

ऐसी तो बातें बहुत-सी हैं, लेकिन प्रेम और निर्वाह के प्रति जैनेन्द्र का दृष्टिकोण क्या है, यह देख लेना चाहिए। इन दोनों विषयों पर मानव-जाति के प्रारम्भ से लेकर ही विचार होता आ रहा है और कदाचित् होता भी रहेगा। रानी केतकी की कहानी में प्रेम की ही बात है, १९वीं शताब्दी के अंतिम दशाब्दों में उपन्यासों के ढेर लगाने वाले प्रसिद्ध औपन्यासिक किशोरी-लाल गोस्वामी के सब उपन्यासों में प्रेम की ही चर्चा है; व्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' भी एक प्रेम-कहानी ही है; प्रेमचन्दजी के उपन्यास भी प्रेम-चर्चा से खाली नहीं हैं। पर उन लोगों का प्रेम एक शास्त्रीय प्रेम है, एक बँधे हुए मार्ग से चलनेवाला प्रेम है, एक जड़ का प्रेम है जिसमें चेतन व्यक्तित्व का स्पर्श नहीं है, जिसमें प्राणों की ऐंठन नहीं है। एक नारी ने किसी पुरुष से प्रेम किया और वह प्रेम भी ऐसा कि बस कुछ न पूछिये। पर परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह दूसरों के चंगुल में फँस जाती है। हजार संकटों से घिरे रहने पर भी, वह अपने दामन को पाक रखती हुई, अपने प्रेमी से मिलकर रहती है। लेकिन प्रश्न यह है कि जीवन इतनी सरलता से राज-मार्ग पर चलता है क्या? परिस्थितियाँ इतनी नगण्य हैं क्या? क्या 'त्यागपत्र' की मृणाल अपने पति को प्यार नहीं करती? अपने पति के प्रति मृणाल के हृदय में प्रेम की ही भावना है जो उसमें इतनी शक्ति देती है कि विवाह के पूर्व 'शीला' के भाई से सम्बन्ध वाली घटना निस्संकोच कह सके। पर पति नाम के देवता में उस प्रेम की आग को सह सकने की सामर्थ्य भी हो। जब मृणाल पति के लिए जीवन का गलग्रह हो जाती है, जब वह पति की सुखरूपी वाटिका की दावाग्नि बन जाती है तब भला वह अपने प्रेमी पति पर अभिशाप की तरह क्यों लिपटी रहे और इस प्रकार परिस्थितियाँ उसे कोयलेवाले के साथ भागने को बाध्य कर देती हैं। अपने भाग आने की बात को वह प्रमोद को यों सुनाती है: "जैसी मैं उसकी प्यारी थी और प्यारी हूँ, वह मैं ही जानती हूँ। उसे अपने मोह का ही प्यार था। लेकिन उसे उसका पता न था। उस समय के मेरे जी की हालत न पूछो, ऐसा त्रास मैंने बहुत कम पाया है। उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विसत्य थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे ही मार देता। सच कहती हूँ प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आयी कि मैं ही जानती हूँ।" यह मानवता है जो अपने हृदय में व्यथा और वेदना की

चिनगारी रखकर सारी परिस्थितियों को झेलते हुए तप्त कांचन की तरह शुद्ध ही रहती है। कारण, वेदना और व्यथा में बड़ी शक्ति होती है, ऐसा जैनेन्द्र का मत है। "जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-कथा में मिल जाता है।"

प्रेम और आत्मव्यथा की बात, 'सुनीता' के १८वें परिच्छेद में उस प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है जब हरिप्रसन्न, सुनीता और उसके परिवार के साथ 'मीरा' फिल्म देखने के लिए गया है। क्या मीरा ने राणा से विमुख, होकर राणा के साथ अन्याय नहीं किया है? मीरा पतिव्रता बिना हुए भी क्यों हमारी श्रद्धा की अधिकारी बनी जाती है? पति को छोड़, उनसे विमुख, और किसी ओर उन्मुख होने पर भी मीरा लांछित क्यों नहीं? पर फिर भी मीरा के प्रति भीतर का स्नेह और वेदना उमड़ी ही आती है, भरी ही आती है। ऐसा क्यों होता है? सुनीता के शब्दों में सुनिये। वह मीरा के सम्बन्ध में पति से कहती है, "मीरा को समझी मैं भी नहीं हूँ; पर समझती हूँ कि वह समझी जा सकती है। मीरा के हृदय को राणा के हृदय के प्रेम की व्यथा से कहीं उलटी प्रेम की व्यथा को धारण किये रहना पड़ा—क्या तुम यह नहीं मानते?"

श्रीकान्त—नहीं···तुम कह सकोगी क्या कि राणा के प्रति मीरा ने अन्याय नहीं किया?—कि राणा के प्रति मीरा ने अप्रेम भाव नहीं दरसाया? अप्रेम अन्याय है।

सुनीता—मैं तो इतना ही कहती हूँ कि राणा ने अन्याय नहीं किया। यह मैं राणा की ओर से भी कहती हूँ, मीरा की ओर से भी कहती हूँ। राणा के मन की व्यथा की ज्वाला में जिन कृत्यों को क्रूर कहा जाये, वे ऐसे भस्म हो जाते हैं, जैसे यज्ञ में समिधा। मैं तो राणा के साथ रो भी सकती हूँ। पर मीरा के साथ भी, मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूँ। मीरा के मन को जानने पर मीरा को दण्ड देने योग्य जी नहीं रखा जायेगा।"

यही जैनेन्द्र की आत्मकथा और वेदना-विषयक सिद्धान्त है। वे विवाह को एक बहुत उपयोगी संस्था मानते हैं, वे समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहते; पर वही मनुष्य का अन्तिम पड़ाव है, यह बात नहीं मानते। यदि मनुष्य अपने हृदय में वेदना की पूँजी को लेकर चले तो वह कितनी ही दूर जा सकता है, उसके लिए प्रतिबन्ध नहीं; क्योंकि वेदना मनुष्य को बाँधती नहीं, उसे खोलती है; उसमें बल का संचार करती है और वही व्यथा को सहन करने की शक्ति देती है। मीरा की तरह अथाह आत्मा की कथा से भरा मानव दस-बीस न होने पर इतने से ही वह असत् न हो जायेगा। हमें उससे,

आदर्श के रूप में रखकर मार्ग-दर्शन और चेतावनी तो ले लेनी ही होगी। सारा जैनेन्द्र-साहित्य पुकार-पुकार कर कह रहा है कि यदि जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझने की अभिलाषा है तो उसे कथा और वेदना की आँखों से देखो। वही वेदना तुम्हें संसार के शूलों को फूल में परिणत कर लेने की शक्ति देगी। यह वेदना ही है जो चकोर को अग्नि-कण को सहज भाव से पचा लेने की शक्ति प्रदान करती है।

कहना नहीं होगा कि यह दृष्टिकोण आधिभौतिकवाद का नहीं, वल्कि अध्यात्मवाद का है। जैनेन्द्र की विचारधारा की अन्तर्प्रेरणा वही है जो भारतीय विचारकों की आदिकाल से रही है। कहा जाता है कि भारतीय और यूरोपीय दर्शन में यही अन्तर है कि जहाँ यूरोपीय दर्शन की दृष्टि इसी जीवन और जगत् की व्याख्या तक रही, वहाँ भारतीय आगे जाकर ईश्वर, मोक्ष, आत्मा और ज्ञान इत्यादि गहनतम विषयों की ओर अग्रसर हुए। आज भी भारत के मनीषी इसी दृष्टिकोण से विचार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। जहाँ तक उपन्यास और कथा का प्रश्न है जैनेन्द्रजी Traditionalist नहीं हैं, पर विचार-क्षेत्र में तो वे कपिल, कणाद और शंकर के ही अनुयायी मालूम होते हैं। आज का युग तो नारी का युग है; स्त्री-स्वातन्त्र्य, पातिव्रत तथा विवाहादि के प्रति हम वड़े ही क्रान्तिकारी विचारों के नारे वुलन्द करते हैं। पर इन सव चीजों के अन्दर जो मनोवृत्ति काम कर रही है वह वड़ी ही सस्ती तथा पलायनवादी मनोवृत्ति है जो जीवन को भी वहुत सस्ता कर देती है। यह जीवन के प्रति भोग की दृष्टि है, इन्द्रियों की सेवा है और कुछ नहीं। अछूतों की समस्या को लीजिये। मानो कि अछूतों के प्रति घृणा का दृष्टिकोण रखकर, उन्हें अस्पृश्य समझकर हम अत्याचार करते हैं और जहाँ तक शीघ्र ही इसका नाश हो, भारत के लिए हितकर है। जहाँ कहीं जिस किसीके हाथ का वनाया भोजन खाकर अपने को सुधारक कहलानेवालों ने अछूतोद्धार को अपने आलस्य और आरामतलवी का एक वहाना मात्र वना लिया है। एक प्रोफेसर साहव हैं। उनके पास नौकर हैं, वैठकर रोज चार घण्टे ताश खेल सकते हैं पर अछूतोद्धार के नाम पर उन्हें स्वयं रोटी सेंकना नहीं आता। यह कुछ नहीं है, भोगविलास की प्रवृत्ति है. जीवन में इन्द्रियपरायणता को महत्त्व देना है, और त्याग की हीनता स्वीकार करना है और कुछ नहीं। इसे ही कहते हैं खून लगाकर शहीद वनने वाली मनोवृत्ति। आप अपने स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए शारीरिक परिश्रम तथा प्रकृति के विस्तृत आँचल को छोड़कर पलंग पर पड़े-पड़े शीशियों में खोजते हैं। इसी मनोवृत्ति में हमारी आधुनिक सभ्यता का सवसे वड़ा खतरा

है। इसे जैनेन्द्र ने खूब पहचाना है। स्त्री स्वतन्त्र होना चाहती है, बड़ी अच्छी बात है। परतन्त्रता कभी भी श्रेयस्कर नहीं। पर देखना तो यह है कि स्वातन्त्र्य के नाम पर स्त्री अपने को ठगती तो नहीं रही है और एक बन्धन को तोड़कर अपने लिए एक दूसरे दृढ़तर बन्धन की सृष्टि तो नहीं कर रही है? कल्याणी अपने लेख में कहती है, मानो उसने ठीक मार्ग को पकड़ा है—स्त्री जो निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है, उसके मूल में यही अभिलाषा है कि वह माता बनने से बची रहे और पुरुष के प्रति उसका प्रेयसी-रूप ही प्रतिष्ठित रहे। लेकिन इससे बड़ी प्रवंचना कोई नहीं हो सकती। पीछे इसमें पछतावा ही हाथ रहनेवाला है। इस तरह अंत में केवल एक व्यर्थता के भाव को लेकर मरना नसीब रह जायगा। पश्चिम इसी प्रवंचना के पीछे है।······और वे समाजवादी, जो विवाह नहीं पर समाज चाहते हैं, माताओं के दूध को बाजार में बेचना चाहते हैं। विवाह, अर्थात् गृहस्थी उजाड़कर जो समाज बनेगा वह समाज नहीं, लश्कर-कैम्प बनेगा? ऐसे ही अनेक-से दीख पड़ने वाले विचार जैनेन्द्र-साहित्य में भरे पड़े हैं जिन्हें देखकर एक जोशो-खरोश से भरा नौजवान उन्हें दकियानूसी तक कह सकता है। पर नहीं, जैनेन्द्र आधुनिक प्रवाह में बह जानेवाले व्यक्ति नहीं; वे समाज के रोग की असली जड़ को पहचानने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं, "विश्व के मूल में यज्ञ है; त्याग पर भोग टिका है। साहित्यकार का काम अपनी युग-भावना का साथ देना तो है ही, पर इसका विरोध करना भी कम महत्वपूर्ण कर्त्तव्य नहीं है। कभी-कभी तो समाज की प्रचलित विचारधारा का विरोध करना भी साहित्यकार का कर्त्तव्य हो जाता है।"

बंगाली औपन्यासिकों में शरत्बाबू ही एक ऐसे हैं जो बहुत अंशों में जैनेन्द्र से मिलते-जुलते हैं और जिन्होंने जैनेन्द्र को प्रभावित भी किया है। विशेषतः 'शेष प्रश्न' की 'कमल' और 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' के कण्ठ-स्वर तो एक ही संवादी दिखलाई पड़ते हैं। शरत्बाबू की नायिकाओं के हृदय में समाज के प्रति विद्रोह की भावना प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, वे उन रूढ़ि-बन्धनों को एक झटके से तोड़ देती हैं, समाज को ललकारती हैं। राजलक्ष्मी एक वेश्या है, सावित्री ही कौन बड़ी दूध की धुली हुई है, कमल तो पति को छोड़ ही देती है, पर इतना होते भी कुछ बातों में बड़ी कट्टर हैं। वे पूजा करती हैं, पाठ करती हैं, बड़ी सादगी से जीवन व्यतीत करती हैं, कट्टर से कट्टर दिखलाई पड़ती हैं। इसका कारण क्या है? उत्तर में कहा जाता है कि शरत्बाबू का उद्देश्य यह दिखलाना था कि सब-कुछ होते हुए भी उनकी मौलिक पवित्रता नष्ट नहीं हुई थी, उनकी आत्मा

क्रम

अकलुष थीं। पर जैनेन्द्र की नायिकाएँ तो उतनी भी कट्टरता नहीं दिखलातीं। उनके हृदय की झाँकी देने वाली उतनी-सी छोटी खिड़की की सृष्टि भी जैनेंद्र ने नहीं की है। कारण कि उनका सिद्धान्त है मनुष्य को एक ही वल प्राप्त है और वह है आत्मिक वल। वह जिसको प्राप्त है उसके लिए किसी वाहरी सहारे की जरूरत नहीं। मृणाल में जो वास्तविक पवित्रता है जिसके सामने 'जजसाहव' भी अपने को तुच्छ समझते हैं। उसको दिखलाने के लिए किसी वाहरी उपादान की आवश्यकता है? वह तो स्वतः प्रकाशमान है, सूरज की तरह दूसरों को प्रकाशित करने के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है।

: ३ :

जैनेन्द्र के उपन्यासों की भाषा

भाषा को लेकर संस्कृत के वैयाकरणों ने 'स्फोट' और 'प्रणव' इत्यादि सिद्धान्तों की जो विवेचना की है, उसका विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हम इतना ही जानें कि भाषा और भाव में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाव में परिवर्तन के साथ भाषा में परिवर्तन भी एक तरह से लाज़मी हो जाता है। हमें भाषा में परिवर्तन बुद्धिपूर्वक लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयंमेव परिवर्तित हो जाती है। उसमें भावों की ऊँचाई या गहराई तक पहुँच जाने की अपूर्व शक्ति होती है। कारण, भाषा को भाव से पृथक् नहीं किया जा सकता, भाषा भाव ही है। अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास से बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित होगा कि देश की प्रचलित धारा के, जिसका प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ता है, परिवर्तन के साथ साहित्य की भाषा में परिवर्तन हो गया है। पोप की वही भाषा नहीं, जो वर्डसवर्थ या कॉलरिज की है। कारण, दोनों के विचारों और भावों में बहुत अन्तर था।

जैनेन्द्र की भाषा को देखने से पता चलता है कि उनके उपन्यासों की कथा की तरह उनकी भाषा भी भिन्न तरह की है और ऐसा होना पूर्णरूपेण स्वाभाविक है। यदि भाषा या भाव-प्रकाशन के ढंग में परिवर्तन नहीं होता, तभी हमारे लिए आश्चर्य की बात होती। इस परिवर्तन पर हमें कोई आश्चर्य नहीं। हम यहाँ एक बात और भी स्पष्ट कर दें। भाषा को हम स्कूल के अध्यापकों की दृष्टि से देखना नहीं चाहते जो एक-एक वाक्य और शब्द लेकर यह कहते हैं कि यहाँ पर व्याकरण की अमुक भूल है, यहाँ पर विवरण ठीक नहीं—इत्यादि। यहाँ पर एक व्यक्तिगत उदाहरण के लिए पाठक क्षमा करें। हमारे एक माननीय मित्र ने, जिनकी विद्वत्ता की हमारे हृदय में बड़ी प्रतिष्ठा है, हमसे पूछा कि क्या आप 'दुकेला' शब्द को ठीक समझते हैं? हमने कहा कि ठीक हो या न हो, यह हम नहीं जानते। हो तो वह गलत भी सकता है; पर शब्द तो

विचार का प्रतीक मात्र है। जो बात किसी शब्द के द्वारा कही जाने वाली है, यदि वह कह दी जाती है और उस बात को सुनने वाले के हृदय तक पहुँचा दी जाती है, तब वह ठीक है, अन्यथा गलत। पर जो 'दुकेला' शब्द है वह इस कसौटी पर ठीक उतरता है। और चाहिए ही क्या? उसी तरह जैनेन्द्रजी की व्याकरण-सम्बन्धी भूलों और विवरण के दोषों को अध्यापन के लिए छोड़, उसके अभिव्यंजनात्मक स्वरूप को देखना ही समीचीन होगा।

स्व० प्रेमचन्द की भाषा को देखिये। उसमें गजेन्द्र की मस्ती है, पर मृग शिशु की लुभानेवाली चौकड़ी नहीं है। हृदय के संतोष को आप भले ही पावें, पर आत्मा की बेचैनी नहीं। उसमें समाज के पहलू हैं, पर जिन्दगी की आरजू नहीं। उसमें समाज की हलचल और प्रतिबिम्ब हैं, पर मानवता की गहरी पुकार और माँग नहीं। प्रेमचन्द की भाषा किसी चीज के वर्णन करने में बेमिसाल है। उसे कठिन से कठिन विषय के वर्णन का भार सौंपिये, वह कैंची की तरह मार करती हुई साफ निकल जायगी और विषय को आईने की तरह झलका देगी। उनकी पुस्तकों में कहीं-कहीं बड़ी मनोहर सूक्तियाँ मिल जाती हैं, जिन्हें पढ़कर हमारे हृदय में अपार सन्तोष होता है। पर जैनेन्द्र की भाषा में ये विशेषताएँ नहीं मिलतीं। और ये मिल भी कैसे सकती थीं? कारण, हृदय की वह तह, जहाँ रचना का उद्‌गम होता है, इन दोनों औपन्यासिकों में भिन्न-भिन्न तल पर है। भाषा और भाव, अभिव्यक्ति और अभिव्यक्त होने वाले भावों को अलग-अलग करके भाषा को उसकी पारिपार्श्विक परिस्थितियों से तोड़कर देखने की प्रवृत्ति भ्रामक है। भाषा में भावों के अनुरूप, उन्हें अभि-व्यक्त करने की ऊँचाई तक उठ खड़ी होने की गजब की शक्ति है, उसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सांख्य-दर्शन के अनुसार जिस प्रकार पुरुष के सम्पर्क में आते ही प्रकृति में गति आ जाती है और सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो जाती है, उसी प्रकार भावों का स्पर्श पाते ही भाषा अपना रूप स्वयं प्रकट करने लगती है। कहने का अर्थ यह है कि जैनेन्द्र की भाषा में भी, उनके उपन्यासों की तरह ही, स्वाभाविकता और सहजता पाई जाती है। उनकी भाषा में भावों की ऊँचाई तक उठकर उन्हें अभिव्यक्त करने की गजब की शक्ति है। उनके वाक्य प्रायः छोटे चलते, पर साथ ही साथ मानो फूल बिखे-रते हुए से चलते हैं। वे पारे की तरह ढुलमुल से करते रहते हैं, मानों हमारे हाथों की अँगुलियों का स्पर्श हुआ नहीं कि वह हिल पड़ा, छितरा उठा। पर उससे जरा हौले-हौले पेश आइये, आपको अपार सौन्दर्य का दर्शन होगा। जैनेन्द्र की पुस्तकों के वाक्य बहुत ही छोटे हैं, भाषा भी बड़ी चलती सी है; पर उनके

पढ़ने से मालूम होता है कि वे जितने छोटे दीखने में मालूम पड़ते हैं, उतने ही नहीं, उससे 'कुछ' बड़े हैं। और यही कुछ तो साहित्य की जान है—चाहे उसे लाक्षणिकता कहें या व्यंजनात्मकता या ध्वनि। उनके वाक्य जितना कहते नहीं, उससे कहीं अधिक ध्वनित करते हैं, इंगित करते हैं और अपने अभ्यन्तर में बैठकर देखने की प्रेरणा करते हैं। सचमुच भाषा हो तो ऐसी हो कि जिस बात का वर्णन हो, उसकी तस्वीर पाठक के हृदय-पटल पर उतर आये। इसके विपरीत सब तरह से अनिन्द्य होने पर भी यदि इतनी सी पात्रता नहीं, उसे त्याज्य तो कैसे कहें; पर वह असफल अवश्य है। यहाँ एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट कर दें। अभी-अभी हमने जैनेन्द्र की कहानी 'जाह्नवी' पढ़ी है। वह हमारे सामने है। यों यह कहानियों में कोई विशेष महत्त्व की कहानी है, यह भी नहीं कहा जा सकता; पर चूंकि यही कहानी अभी हमारे मन में ताजी है, अतएव उसी की चर्चा यहाँ करें। एक सज्जन को अपनी पूर्व-परिचिता जाह्नवी नामक महिला कहीं कौओं को दाना चुगाती हुई चुभ जाती है। उन्होंने उसे बहुत दिनों से देखा नहीं है। उसकी स्मृति बड़ी धुँधली-सी है। उसे पहचानने और न पहचानने के बीच की अवस्था से वे गुजर रहे हैं। यही बात लेखक के शब्दों में सुनिये—"अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मंगलवार को और आज बुधवार को सवेरे-ही-सवेरे छत पर नित रोटी की मिस कौओं को पुकार-पुकारकर खिलाने वाली जो लड़की देख रहा हूँ, सो क्या जाह्नवी है? जाह्नवी को मैंने एक बार ही देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। कद भी इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में अधिक था। पर यह वह नहीं है— जाह्नवी नहीं है, ऐसा दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे-ही सवेरे इतने कौए बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं काले-काले वे ही दीखते हैं...।" और जो कुछ हो, ये वाक्य मानस पर विस्मृति के आवरण को भेदकर प्रातःकालीन सूर्य की नन्हीं किरणों की तरह अन्धकार को दूर करते से दिखाई पड़ते हैं।

जैनेन्द्र की भाषा की चर्चा चल रही है। जैनेन्द्र की चर्चा करते हुए इस बात पर जोर देने का अवसर मिला है कि रचनात्मक साहित्य में यदि कोई सबसे महत्त्व की चीज है, तो वह हार्दिकता है। उसी के अभाव में सारी विडंबना उत्पन्न होती है, उसी के नहीं रहने से बखेड़े उठ खड़े होते हैं। यदि रचना में हृदय का सहयोग है, तो सारे दोषों के बावजूद भी वह महत्वपूर्ण है; बल्कि मैं तो एक पग आगे की ओर बढ़कर कहने का साहस करूँगा कि रचना उन्हीं तथाकथित दोषों के कारण अच्छी है। उसे अधिक सुन्दर बनाने में उनका, जिन्हें

हम दोष, त्रुटि, कमी और न जाने क्या-क्या कहते हैं, बहुत बड़ा हाथ है। अपने दोष दूसरों के उधार लिए हुए गुणों से कहीं अच्छे हैं। आखिर कौआ मोर की पाँख के बल पर कितने दिन चल सकता है? लड़के तो अपने प्रोफेसरों की आलोचना करते ही रहते हैं। एक बार एक लड़के ने एक प्रोफेसर के व्याख्यान देने के ढंग पर टीका-टिप्पणी करते हुए कहा—"डॉ०" जब किसी विषय पर व्याख्यान देने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो बातचीत कर रहे हों, पर वह इतना सुन्दर और प्रभावशाली होता है कि बस, मत पूछो।" उसी तरह हमसे पूछा जाय, तो हम कहेंगे कि जैनेन्द्र की रचना में सर्वत्र यही चर्चात्मक शैली और भाषा पाई जाती है। उनकी पुस्तकों को पढ़ते समय मालूम होता है, मानो लेखक आपसे बातचीत कर रहा हो। उस बातचीत में कहीं कुछ गर्मी भी आ जाती हो, पर ठीक उसी सहज और स्वाभाविक ढंग से, जैसे हम और आप कभी-कभी बातचीत करते गर्म हो उठते हैं।

पर हम आपसे पूछते हैं कि क्या आप उस लेखक से अधिक प्रभावित नहीं होते, जो आपके समीप बैठकर बिना बने हुए, आपसे बातें करता है और प्लेट-फार्म के वक्ताओं की तरह हाथ-पैर पटक, आँखें मटका जबरदस्ती आपके गले के नीचे कोई चीज उतारता दिखाई नहीं पड़ता। वह चुपचाप स्वाभाविक गति से बातें-भर कर रहा है, उसमें कोई आग्रह नहीं है। फिर भी उसकी बातों तथा भाषण से आप प्रभावित नहीं हों, सो बात भी नहीं। आप प्रभावित होते हैं, पर इस तरह कि वह प्रभाव आपके जीवन में घुल-मिल जाता है; ऐसा नहीं कि वह पिण्ड की तरह अलग अस्तित्व बनाये गले में अटका-सा हो। बिना प्रयत्न किये ही हम पुस्तक उठाते हैं 'कल्याणी', और हमारी दृष्टि जाती है उसके प्रथम पैराग्राफ पर—"जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो जाता है। कोशिश तो करता हूँ कि फिर उधर जाऊँ ही क्यों? लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूँदता चलूँ, तो फिर खुली रहने के लिए दिशा किधर और कौन शेष रह जायगी? यों सब रुक जायगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है। जिन्दगी नाम चलने का है।" सर्वत्र जैनेन्द्र की यही भाषा और शैली है। उर्दू से घृणा नहीं, अंग्रेजी से परहेज नहीं, संस्कृत से दुराव नहीं। उनके यहाँ भेद-भाव की बू तक नहीं। केवल शर्त है, तो स्वाभाविकता की, सहजता की और बोधगम्यता की। ऊपर उद्धृत पंक्तियों के बाद चर्चायुक्त शैली क्या है और उसकी क्या खूबियाँ हैं, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। समय के परिवर्तन के साथ हमारे आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन और बातचीत में परिवर्तन होता रहता है। राजनीति के क्षेत्र

में ही देखिये न ! एक युग था, जिसमें सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की वाग्मिता, विपिनचन्द्र पाल की आवाज की बुलन्दी और श्रीमती एनी बेसेंट के Manner-isms की कितनी धूम थी। जो रंगमंच पर आकर जितनी ही उछल-कूद मचा सके, हाथ-पैर पीटकर आसमान को सिर पर उठा सके, वही उत्तम वक्ता समझा जाता तथा लोगों को प्रभावित कर सकता था। पर अब तो हमें जवाहरलालजी की सीधी-सादी देशहितैषिता से पूर्ण हार्दिक बातें, गाँधी की चुटीली और चुभती हुई बातें ही चाहिएँ। आज आराम से लीडरी करने वाले राजनीतिज्ञों की आवश्यकता नहीं, आज तो देश पर कुर्बान होने वाले देशप्रेमियों की आवश्यकता है—चाहे जवाँवदराज़ी के क्षेत्र में भले ही वह कोरा हो। उसी प्रकार स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा स्व० सरदार पूर्णसिंह की चुहचुहाती लच्छेदार भाषा का युग भी लद गया।

प्रेमचन्द्र ने भाषा और भाव के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्होंने उसे जीवन के साहचर्य में ला दिया। किसी भी सहजबुद्धि वाले साहित्य के आलोचक को बतलाने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द के पूर्व का साहित्य और स्वभावतः उसकी भाषा, हमारे जीवन से दूर की चीज थी। पात्र जैसे कृत्रिम, वैसे ही उनकी भाषा भी विचित्र ! प्रेमचन्द के होरी, सुमन आदि अवश्य हमारे जीवन के प्राणी हैं और हमारी ही भाषा बोलते हैं। पर इतना अवश्य है कि वे भी हमारे चेतन संसार की सतह तक पहुँच सके थे। उनके पात्र और उनकी भाषा हमारे चेतन जगत् की भाषा थी। आज मनोविश्लेषण के युग में यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि हमारी चेतना को पार कर एक और भी जगत् है, जो इससे कहीं अधिक रमणीय और मनोरम है। वास्तव में हमारा चैतन्य जिसको हम जान सकते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया को बुद्धि के नियन्त्रण में विधि-निषेध की डोर में जकड़ सकते हैं, वह तो जितना अपना नहीं, उतना दूसरों से ऋण ली हुई चीज है। उस जगत् की भाषा मेरी नहीं, दुनिया की दी हुई भाषा है। उसे लेकर थोड़ी देर के लिए मन बहल जाय; पर गहरी आत्म-तृप्ति कहाँ प्राप्त हो सकती है ? वह तो तभी हो सकती है, जब हम अर्ध-चेतन या अचेतन के शीतल स्पर्श के सम्पर्क में आवें। हर्ष की बात है, जैनेन्द्र की भाषा अपने पात्रों की तरह ही हमें इस अचेतन और अर्ध-चेतन के क्षेत्र की ओर अग्रसर करती है। यही कारण है कि हमको अर्थात् वैसे लोगों को, जो चेतन मस्तिष्क की भाषा के सुनने के आदि हैं, जैनेन्द्र की भाषा कुछ विचित्र-सी लगती है। पर उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ता है कि उसमें हमें अन्दर से उभाड़ने की और हमारी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की गजब की शक्ति है। जैनेन्द्र

के किसी भी उपन्यास के चलते पाठक से यह बात छिपी नहीं रह सकती।

साहित्य में समालोचना के क्षेत्र में एक शब्द का बहुधा प्रयोग प्रचलित है। वह शब्द है 'प्रतिक्रिया'। क्रिया के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया में स्वाभाविकता या सहजता उतनी नहीं होती जितना बाह्य आरोप या उत्तेजना। अतः किसी प्राणवान् साहित्य-स्रष्टा को किसी बाह्य परिस्थितियों की चुनौती के रूप में देखना समीचीन नहीं होता, पर, फिर भी आलोचक को इसके सिवा दूसरा साधन भी प्राप्त नहीं। विचार करते समय पूर्वापर की एक विशाल शृंखला सामने रहती है और वहीं पर अपने आलोच्य लेखक तथा उसकी कृतियों की संगति बैठाकर देखने से ही सार्थकता विशेष उपलब्ध होती है। अतः क्रिया और प्रतिक्रिया के माध्यम से देखने की स्वाभाविक दुर्बलता आलोचक को घेर लेती है। और हम कह सकते हैं कि जैनेन्द्र का आविर्भाव प्रेमचंद की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ है। भाषा में भी प्रतिक्रिया के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

'मम्मट' के काव्य के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है :

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।

अर्थात्, "शक्ति, लोकशास्त्र तथा काव्यादि के अध्ययन से उत्पन्न निपुणता तथा काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास से व्यक्ति में कवित्व-शक्ति आविर्भूत होती है।"

'बिल्हण' ने भी कहा है :

कुण्ठत्वमायाति मतिः कवीनां,
साहित्यविद्याश्रम वर्जितेषु ।
केशेष्वनार्द्रासु किमांगनानां,
करोति कृष्णागुरुधूपवासः ॥

अर्थात्, "साहित्य-विद्याश्रम-पराङ्मुख कवियों की प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। नारियों के अनार्द्र केशकलाप को यदि चन्दन के धूम्र से सुवासित किया जाय तो क्या होगा ?" मतलब यह है कि श्रेष्ठ साहित्य सृजन के लिए पाण्डित्य, अध्ययन, बहुज्ञता, शास्त्रावलोकन बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यदि इस सिद्धांत के विरुद्ध कुछ कहना हो और इसका कुछ खण्डन करना हो तो जैनेन्द्र से अच्छा उदाहरण नहीं मिल सकता। जैनेन्द्र का पूरा साहित्य केवल उनकी प्रतिभा के बल पर ही खड़ा है। उन्होंने बार-बार इस बात को स्वीकार भी किया है। यही उनकी भाषा और साहित्य का सबल पक्ष भी है और दुर्बल पक्ष भी। सबल पक्ष तो इसलिए कहा कि व्यक्तित्व के एक विशिष्ट अंश को प्रभावित करने

की उनमें गजब की क्षमता है। वह अंश है आदिम अंश, अज्ञात अंश, जिसे हमने दबाया तो है पर वह आज भी सक्रिय है और अपनी तृप्ति की माँग करता है। यदि जैनेन्द्र का साहित्य भविष्य में पाठकों की भावात्मक सत्ता पर अधिकार बनाये रख सकेगा तो इसी के बल पर। दुर्बल पक्ष इसलिए कहा कि भविष्य में यदि जैनेन्द्र का साहित्य पाठकों को हल्का प्रतीत होगा तो इसलिए कि उसमें भाषा के प्रतीकात्मक स्तर जहाँ पर ज्ञान, विज्ञान, तथ्य, विचार, सूचनाओं की बात कही जाती है। उस पर विशेष बल नहीं दिया गया है।

यहाँ पर जैनेन्द्र की भाषा की बात चल रही है। एक स्थान पर विचार करते हुए मुझे कहने का अवसर मिला है कि भाषा के दो स्तर तो स्पष्ट ही हैं; प्रथम, प्रतीतात्मक, दूसरा पूर्व-प्रतीतात्मक। प्रथम स्तर का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है जहाँ शब्द नपा-तुला और स्थिर हैं। वे सदा बाहर की ओर संकेत करते हैं, भीतर झाँकने को प्रोत्साहित नहीं करते। हम इसके द्वारा सूचना मात्र का आदान-प्रदान करते हैं। उनका मानव पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है इसे हम नहीं देखते। एक दूसरे कार्य के लिए भी भाषा का प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य स्वानुभूति का संचार होता है, जिसके द्वारा हम अपने व्यापकत्व की सीमा में सबको ले आते हैं, एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं और धीरे-धीरे उस एकता के सूत्र को पहचानते हैं जिसके द्वारा सारा विश्व बँधा हुआ है। यह क्षेत्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का है जो पृथकत्व के स्थान पर एकत्व की ओर हिंसा के स्थान पर अहिंसा की स्थापना करता है। विज्ञान हममें पारस्परिक सहयोग की क्षमता पैदा करता है, साहित्य पारस्परिक सहयोग की चाह उत्पन्न करता है। आज विज्ञान का इतना विकास हो गया है कि हम जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं, पर आज तो हमारा ध्येय एक ही रह गया है, 'सैनिक सुरक्षा'! बस, सारे प्रयत्न इसी ओर केन्द्रित हैं कि कोई हमें रण में परास्त न कर पावे। इस बर्बर इच्छा पर नियंत्रण करना हमारी तात्कालिक आवश्यकता है। एक होकर काम कर सकने की क्षमता ही पर्याप्त नहीं। हमें एक होकर काम करने की चाह भी होनी चाहिए और यह कार्य साहित्य और उसकी अहिंसात्मक अभिव्यक्ति से ही सम्पन्न हो सकता है।

'जयवर्धन' में इसी तरह का प्रसंग आया है। विलकर हूस्टन १२ मार्च की डायरी में 'इला' से बात कर रहे हैं कि उनके हृदय का कोई ऐसा मर्मस्थल छू गया। वह पूर्वदीप्त हो दिवास्वप्न की अवस्था में किसी क्षण की पुनरावृत्ति में मग्न हो गई। "बहुत दिनों की बात है, 'बीस', शायद २२ वर्ष पहले की। सागर का तट था, संध्या डूब चली थी, तट सूना था, लहरों पर लहरें लेकर

सागर आता और पछाड़ खाकर पीछे लौट जाता। मैं बराबर साथ···न थी। दो डग पीछे खड़ी जय को देख रही थी। वह पास थे और पूरे दीख नहीं सकते थे। आँख से जैसे परस ही पी जा रही थी। दो से ऊपर मिनट हो गए थे और वह स्तब्ध खड़े थे। आज उनका मन उन्मन था। चुप थे जैसे कहीं ग्रस्त······ बात न कर पाते थे, बस सागर की ओर मुँह किये खड़े थे—स्तब्ध और अचल। जैसे युग बीत गए, सामने अपारता थी और आँखें उनकी वहाँ स्थिर हो गई थीं। मुझे लगा, यह व्यक्ति उस पार ही है। इधर इस ओर नहीं, जहाँ मैं हूँ। उस समय मुझे ऐसा गहरा मोह हो आया, जी जैसे उमगा आता हो। उस सामने खड़े व्यक्ति को अंक में लेकर जैसे समूचा भीतर ढुबका लूं, ऐसा जी चाहा; पर मन में जितना भी चाहा, मैं अलग बँधी-सी उन्हें देखती ही रही— न हलन, न चलन, न कहीं एक कंपन जैसे सब स्पंदन मूर्छित हो गया हो, उस समय की अनन्तता मुझ पर से······"

इस पर विचार करने से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथमतः यह कि उपन्यासकार का ध्यान वर्णनात्मकता की ओर कम है। सूचनाएँ बहुत कम दी गई हैं। तथ्यों का समूह एकत्र करने के प्रति उसमें कोई आग्रह नहीं, बल्कि उदासीनता है। परन्तु शब्दों के टोन, ध्वनि, भाव-भंगिमा से काम लेने की अधिक चेष्टा की गई है। विस्मयबोधक चिह्नों का प्रयोग, बीच-बीच में बिन्दुओं···का आ जाना। इली···?···?···की टेकनिकल विशिष्टताओं का प्रयोग जैनेन्द्र ने प्रथम बार किया हो और उनके पूर्व इनका प्रयोग होता ही नहीं हो, सो बात नहीं। पर इनमें एक अपूर्व अर्थवत्ता, सप्राणता का समारंभ हिन्दी-साहित्य में जैनेन्द्र से ही समझना चाहिए। उनकी भाषा थोड़े-से-थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ कह जाने की अपूर्व क्षमता रखती है।

पता नहीं कि आधुनिक कवि कहाँ तक इस बात को स्वीकार करेंगे। पर उनमें जो पूरे अधूरे वाक्यों का प्रयोग, भावों की अधूरी विवृत्ति, विचित्र ढंग की स्पेसिंग, पाठकों के सक्रिय सहयोग की अपेक्षा, इत्यादि विशेषताएँ दीख पड़ती हैं, उनके लिए जैनेन्द्र की भाषा ने ही मार्ग प्रशस्त किया है।

'जयवर्धन' नामक उपन्यास में पात्रों के मुख से, विशेषतः वैसे पात्र जिनके प्रति जैनेन्द्र के हृदय में विशेष अनुराग है, उनके उद्‌गारों में उपन्यासकार ही मानो भाषा-सम्बन्धी अपने मन्तव्यों को प्रकट कर रहा है। आचार्य कहते हैं, "मैं बहुत कम पढ़ता हूँ, अपने शास्त्र मुझे प्रिय हैं। उपनिषद्, रामायण, कभी भागवत। गीता तो है ही।" यह प्रकारान्तर से जैनेन्द्र के पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अनास्था का ही प्रकटीकरण है। आगे चलकर वहीं पर भाषा के सम्बन्ध में भी

अपने विचार प्रकट करते हुए वे कहते हैं : "शब्द सूचक है और मौन से हम एक-दूसरे को ज्यादा समझ सकते हैं। शब्द तभी न सिद्ध बनता है जब वह मौन इंगित से बोलता है।" ये उद्धरण उपन्यासकार के भाषा-विषयक विचार को स्पष्ट रूप से सामने रखते हैं जिसका प्रमाण पाठक को उसके द्वारा रचित उपन्यास में पद-पद पर प्राप्त होता है।

विलबर जय से बात कर रहे हैं। इसी को इस तरह से कहिये कि कोई पाठक जैनेन्द्र के उपन्यास को पढ़ रहा है। विलबर जय की बातों को सुनकर कहते हैं (मतलब, पाठक जैनेन्द्र के उपन्यासों को पढ़कर कहता है)—"जय (मतलब जैनेन्द्र) के शब्द एक ओर यहाँ होते हैं, आशय कहीं दूसरी ओर दूर होता है। पर शब्द वक्र होने से आशय और भी सीधा देते हैं। इतना कि आगे कहने के लिए कुछ नहीं छोड़ते। वह आशय अर्थ से बड़ा होता है। सच, बड़ा अजब लगता है। इतनी उम्र में यह बात मैंने अधिक नहीं पाई।"

प्रेमचन्द भी अपने वर्णनों में "आगे के लिए नहीं छोड़ते।" जैनेन्द्र भी वही करते हैं। पर जहाँ तक प्रेमचन्द का वर्णन अन्तिम बूंद तक निचुड़ जाता है, एक बार कह देने के बाद उसकी सूखी सीठी ही सामने पड़ी रहती है, वहाँ जैनेन्द्र की भाषा निचुड़ जाने पर भी किसी रहस्यमयी प्रक्रिया से पुनः-पुनः रसार्द्र होती रहती है। अज्ञेय की भाषा में भी पुनः-पुनः रसार्द्र होने की शक्ति है पर चूंकि उसमें ज्ञान-विज्ञान की गरिमा भी है अतः एक बार निचुड़ जाने पर उसे रसप्रवण होने में थोड़ा विलम्ब होता है। पर जैनेन्द्र की भाषा का रस चूस कर अलग रखा नहीं कि वह पुनः रसान्वित हो गई। कारण कि वह भावस्वरूप ही है, रस-स्वरूप ही है। भाव और रस के सिवा वहाँ और कुछ है ही नहीं।

शब्द तथा भाषा के प्रति जैनेन्द्र का क्या रुख है, यह उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र प्रगटित उद्‌गारों से भी पता चलता है। 'कल्याणी' में लेखक पात्र कहता है, "शब्द अधिकतर झूठ है, मन की तकलीफ को जब वे बढ़ावें और उस तकलीफ से ही जब वे बनें तब तो सच है, अन्यथा मिथ्या है। भाषा बस पहरावन है और शब्द कोई भी यथार्थता को नहीं पकड़ सकता। शाब्दिक विशेषण मेरे काम नहीं आते। सब उथले, ओछे रह जाते हैं। आप ही बताइये, कल्याणी असरानी की याद को क्या कह दूं कि वह खोटी थी, या यह कह दूं कि वह अच्छी थी? पर बुद्धि-निर्मित ये सब शब्द सतह की लहरों को गिनते हैं, गहराई को कहाँ नापते हैं? क्या वे उसको तनिक भी पाते हैं जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है? रेखा में बंधता है? पर माँग है कि उसी को लो, उसी को पाओ। किन्तु अन्तर में ही उसे पा सकते हो, ऊपर

लाकर जो देखोगे और दिखाओगे, वह वह नहीं है। आँखों से ओझल है, वह शब्दों से भी पार है। उसे बस पार ही जानो।"

उसी तरह कल्याणी नामक उपन्यास में एक स्थान पर जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' के विचित्र व्यवहार पर विचार करते हुए एक पात्र से कहलाया है, "कल्याणी में यही अनबूझ है। चार में तीन हिस्से बात अनकही रखकर सिर्फ एक हिस्सा कहेंगी। उस पर समझेंगी कि समझाने को काफी हो गया। मानो कि मेरे लिए अनकही तीन हिस्सा बात तो तय ही हो। बाकी एक हिस्सा कहने का जो कष्ट किया जा रहा हो, वह यों ही जाने क्यों ? अन्यथा तो उतना भी आवश्यक ही हो।"

अन्त में हमारे निष्कर्ष यही हैं कि छोटे-छोटे वाक्यों में साधारण से साधारण शब्दों के द्वारा गूढ़ातिगूढ़ भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति हिन्दी को जिन साहित्यकारों ने प्रदान की है, उनमें जैनेन्द्र का नाम सबसे ऊपर है।

ऊपर हमने जैनेन्द्र को प्रेमचन्द की प्रतिक्रिया के रूप में देखने की बात कही है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित कथा है, जैनेन्द्र में उसका अभाव है। प्रेमचन्द बाह्य भौतिक जीवन के चतुर-चितेरे हैं, जैनेन्द्र सूक्ष्म आध्यात्मिक पक्ष को छूने वाले। प्रेमचन्द की भाषा वर्णनात्मक तथा सामाजिक, जैनेन्द्र की भाषा ध्वन्यात्मक तथा वैयक्तिक। मतलब कि प्रायः प्रेमचन्द से सब बातों में विपरीत। परन्तु यह वैपरीत्य सहज और स्वाभाविक ढंग से आया है। इसमें किसी प्रकार की तीव्रता या उत्ताप नहीं है।

: ४ :

जैनेन्द्र के उपन्यासों की टेकनीक

जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' नामक उपन्यास में कल्याणी पर विचार प्रकट करते हुए कथा के एक पात्र से ये बातें कहलवाई हैं "कल्याणी" में यही तो अनबूझ है। चार में तीन हिस्से बात अनकही रखकर सिर्फ एक हिस्सा कहेगी। उस पर समझेगी कि समझने को काफी हो गया। मानो मेरे लिए अनकही तीन हिस्सा बात तो यह ही हो। बाकी का एक हिस्सा कहने का जो कष्ट किया जा रहा है वह भी यों ही, जाने क्यों ?" और मुझसे कोई पूछे तो मैं तो यही कहूँगा कि उपन्यासकार यहाँ पर मानो अचेतनावस्था में एक पते की बात कह गया है जिसके द्वारा उसकी टेकनीक और कला के अध्ययन करने वालों को उसे समझने में बड़ी सहायता मिलती है। सचमुच जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में 'तीन हिस्से बात अनकही रखकर सिर्फ एक हिस्सा' कहते हैं जिससे पाठकों के हृदय में एक असन्तोष-सा, एक खीझ-सी और आन्दोलन-सा बना रहता है। 'कल्याणी' की तो बातें ही अलग हैं। उसमें तो जितनी घटनाओं का समावेश हुआ है वे मुख्य भाग से इतनी सूक्ष्म और पतली डोर से लटकती हैं कि उनके तारतम्य को देखने में बड़ी कठिनाई होती है। वास्तव में देखा जाय तो मिस्टर भटनागर, मिस्टर देवलीलाकर, प्रान्त के प्रीमियर, मन्दिर का निर्माण, भारती तपोवन इत्यादि बातें इस रूप में आई हैं कि वे केवल स्केच-मात्र हों, उखड़ी-उखड़ी-सी, ऊपर ही तैरती हों, कथा के आभ्यन्तर से मानो उनका सम्बन्ध नहीं-सा हो। पर 'परख' की कट्टो और विहारी की बातें भी सामने सुस्पष्ट रूप से कहाँ आई हैं ? इस रूप में कि हम उनके बारे में सारे ज्ञातव्य को जानकर चैन की साँस ले सकें। सुनीता और हरि प्रसन्न भी क्या हमें कम उलझन में डाले रहते हैं ? हम अपनी बुद्धि की नाप-तौल में उन्हें पकड़कर मानो अपनी अनिच्छा के बावजूद, समझने का प्रयास करते हैं। पर, क्या हम उन्हें समझ पाते हैं ? क्या वे हमारी पकड़ में आते ही आते नहीं रह जाते ?

जैनेन्द्र की इस अस्पष्टता, संकोच और वर्णनात्मकता की कमी की वास्तविकता को समझने के लिए आप हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार की कृतियों को लीजिये। प्रेमचन्द के उपन्यासों को लेना ठीक होगा। कारण, जहाँ तक कला और टेकनीक का प्रश्न है, हिन्दी के प्राय: अन्य उपन्यासकार प्रधानत: आज भी उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहे हैं। वही वर्णन-शैली, वही प्लाट और किंचित् परिवर्तन के साथ, वही चरित्र-चित्रण और एक-पर-एक आती जाने वाली घटनाओं का घटाटोप, अर्थात् सब कुछ वही। प्रेमचन्द का पाँच भौतिक शरीर पंचत्व को भले ही प्राप्त हो गया हो, पर हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र में आज भी प्रेमचन्द-युग ही चल रहा है। अत: प्रेमचन्दजी की कला की और जैनेन्द्रजी की कला की एक मुख्य बात को आमने-सामने रखकर हम जैनेन्द्र के प्रति, अपने प्रति और उपन्यासकला के प्रति अधिक न्याय करने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रेमचन्द के पाठकों को एक बात की अनुभूति हुए बिना नहीं रही होगी। प्रेमचन्दजी का पाठक ऐसा अनुभव करता है कि वह मानो एक साफ-सुथरी, धुली हुई सड़क पर चल रहा हो, वह निर्भय हो, नि:शंक हो चल रहा है क्योंकि उसे किसी बात का डर नहीं है। वह निश्चित रूप से जानता है कि वह बिना किसी कष्ट के अपने लक्ष्य-स्थान पर अवश्यमेव पहुँच जायगा। वह जानता है कि लेखक अर्थात् उसका मार्ग-प्रदर्शक बड़ा ही भलामानस है, सहृदय है, वह उसे हाथ पकड़कर लक्ष्य पर पहुँचा ही देगा, कभी भी उसे धोखा नहीं देगा। राह में ठहरकर उसे यह देखने की आवश्यकता नहीं कि कहीं वह देखे तो सही कि वह अपने मकसद से दूर तो नहीं चला आया, अथवा, कहीं वह राह तो नहीं भूल गया है! मार्ग-प्रदर्शक छाया की भाँति उसके पीछे-पीछे लगा रहता है; एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होता। पाठक ऐसे नेता, राहगीर को पा कर अपने को उसके हाथों सौंप देता है और मुक्त हो जाता है। और मैं पूछता हूँ कि ऐसे एक मार्ग-प्रदर्शक को पाकर कौन अपने को कष्ट में डालने का प्रयत्न करेगा? आप ट्रेन में चलते हुए, पैर पसार झपकी का आनन्द लेते हुए, अपने साथियों के साथ बैठकर गप्पें करते हुए भी प्रेमचन्द के उपन्यासों का रसास्वादन कर सकते हैं। बीच में एक-दो पन्ने पढ़ने से छूट भी गये तो कोई विशेष चिन्ता नहीं। लेखक आपको सँभाल लेगा। दूसरे शब्दों में, यों कहिये कि प्रेमचन्द अपने पाठकों की मानसिक सतर्कता, जागरूकता और चौकन्नेपन पर अधिक जोर नहीं देते हैं। बातें साफ हैं, घटनाएँ एक-पर-एक सीधी तरह आती-जाती हैं। भाषा की बानगी का क्या कहना, घटनाएँ हमारे दैनिक बाह्य जीवन

की हैं जिनसे हम परिचित हैं; हम आँखें मूँदे, मस्त हो चलते चले जाते हैं।

पर 'सुनीता' और 'कल्याणी' का लेखक तो ऐसा सहृदय और भलामानस, जिसे हम अंग्रेजी में goody-goody sort of fellow कहते हैं, नहीं है। वह बड़ा ही मितभाषी है, घटनाओं के रूप में राह को दिखाने के लिए राह में चिह्न-स्तम्भ भी नहीं रखता, बातें भी कुछ विचित्र ढंग से करता है मानो अन्दर की व्यथा उसे मथ रही हो। वह तो हमें एक क्षण भी चैन नहीं लेने देगा, बराबर मानो अपनी चुभती हुई बातों से हमारे अभ्यन्तर को कुरेदता रहेगा। जब तक उसका उपन्यास हमारे हाथ है, हम उन्हें समाप्त नहीं कर लेते हैं तब तक तो भावनाओं की आग से उबलती हुई कढ़ाही से चैन ही नहीं; समाप्त कर लेने पर भी हृदय को शान्ति कहाँ मिलती है? झकझोरे हुए हृदय की वेदना की गूँज और भी ध्वनित होती रहती है। लेखक मानो भागा-भागा जा रहा है; जहाँ हमने थोड़ी-सी सुस्ती की कि वह मीलों दूर है; अब क्या हो? दौड़ो, पकड़ कर उसे छूओ, नहीं तो रसास्वादन से हाथ धो बैठो। सच मानिये, जैनेन्द्र के सारे उपन्यासों में इसी तरह की दौड़-धूप, लुकाछिपी, धूमधाम मची रहती है। जिस तरह यह विशाल विश्व निरन्तर आगे की ओर प्रगतिशील है, एक क्षण भी शान्त नहीं, ग्रह, नक्षत्र और तारे मानो चर्ख पर चढ़े नाच रहे हैं, उसी तरह जैनेन्द्र का उपन्यासकार, उसके पात्र और उपन्यास के पाठक एक तीव्रगति से, किसी आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर, अज्ञात की ओर परिधावित हो रहे हैं। यही गत्यात्मकता जैनेन्द्र के उपन्यासों की मुख्य विशेषता है। 'प्रेमचन्द स्कूल' के उपन्यास Static हैं और जैनेन्द्र के उपन्यास Dynamic हैं। यहाँ एक गलतफहमी दूर करने के लिए पहले ही एक बात कह दूं। यह कहना कि 'प्रेम-चन्द स्कूल' Static है और जैनेन्द्र Dynamic' प्रेमचन्द के महत्त्व को किसी तरह कम करना नहीं है। जहाँ प्रेमचन्द अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं, वहाँ जैनेन्द्र को समझने के लिए उचित Perspective मिले, इसीलिए यह चर्चा की गई है।

अब यह प्रश्न होता है कि जैनेन्द्र की इस पद्धति या टेकनीक का उपन्यासों पर सामूहिक रूप से क्या प्रभाव पड़ता है? एक क्षण के लिए आप मानव-स्वभाव के एक पहलू पर विचार कीजिये, और, मेरे जानते, साहित्य को सम-झने के लिए उसे मानव-प्रकृति के आलोक में देखना ही ठीक होता है, क्योंकि सब कुछ होने पर भी, साहित्य कुछ नहीं है यदि वह मानव-प्रकृति और जीवन की अवहेलना करता है। आप दान के रूप में धन प्राप्त करते हैं। उसमें अपने निजत्त्व का अनुभव नहीं करते हैं; आप उसे अपना नहीं समझते और यही

कारण है कि तज्जनित जो आनन्द है वह फीका-सा रहता है। मानो आप उस धन का उपभोगकर एक अपराध कर रहे हों। दूसरी ओर, जो द्रव्य आप अपने पसीने के बल पर उपार्जित करते हैं; अपने को होमकर प्राप्त करते हैं उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता क्योंकि वह तो आपका ही अंश है न? उसका उपभोग निर्द्वन्द्व होकर आप क्यों न करें?

वही बात जैनेन्द्र के उपन्यासों पर लागू हो सकती है। आपको जैनेन्द्र के उपन्यासों को पढ़ते भयानक मानसिक संघर्ष का सामना भले ही करना पड़े, अपने को सदा चौकन्ना भी रखना पड़े, पर यदि आपने एक बार विजय प्राप्त की, तो आप सारे कष्ट भूल जाते हैं। बल्कि मैं तो यह भी कहना चाहूँगा कि वे ही कष्ट हमारे परिणाम को मीठा कर देने में सहायक हो जाते हैं। मोती को प्राप्त करने के लिए समुद्र में डूबने वाले के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ता है। अपने जीवन को संकट में डालना पड़ता है, पर मोती के हाथ आते ही सारे दुःख छूमन्तर।

ऊपर मैं यह कह आया हूँ कि गत्यात्मकता जैनेन्द्र के उपन्यासों का प्राण है। मैं समझता हूँ कि मैं अपने को और स्पष्ट कर सकूँगा यदि मैं यहाँ यूरोपीय चित्रकला के उस सम्प्रदायकी चर्चा करूँ जिसे Futurist कहते हैं। १९वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में यूरोप की चित्रकला के इतिहास में नूतन प्रयोगों एवं क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। लोगों की विचारधारा में परिवर्तन हुए, जीवन पर विचार करने के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, वस्तुओं के मूल्याँकन का ढंग बदला, तो यह कैसे सम्भव था कि इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करने वाली चित्रकला और साहित्यिकता का रुख न बदलता? कुछ विवेचकों ने, अर्थात् किसी वस्तु पर सूक्ष्म रूप से गहराई में पैठकर विचार करने वाले मनीषियों ने, सोचा कि प्राचीन कला निष्प्राण है, उसमें गति नहीं, जीवन नहीं, और नहीं है जीवन की हलचल।

कल्पना कीजिये कि एक घोड़े का चित्र खींचना है। प्राचीन चित्रकला अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकती है कि वह एक दौड़ते हुए घोड़े का चित्र आपके सामने उपस्थित करे। पर वह चित्र एक खास क्षण का ही होगा। उसमें आप सतत् अग्रसर, द्रुतगामी अश्व का रूप नहीं देख सकेंगे। चित्रकार घोड़े का एक डैफीनिट पोज़, एक दौड़ते हुए घोड़े का स्थिर रूप भले ही दिखलाये, पर गतिमान घोड़े का, उस घोड़े का, जो प्रत्येक पल और विपल अग्रसर हो रहा है, रूप कहाँ दिखा सका है? अर्थात् आपने एक स्थिर (Static) अश्व को, देखा है, पर उसकी गति का, उसके अन्दर जो एक व्यापार है, हलचल है, उसका चित्रण कहाँ हो

सका है ? इसी वात को दृष्टि में रखकर एक ऐसे चित्रकारों का दल उदित हुआ जिसने इसी गत्यात्मकता पर जोर देना, इसे ही चित्रित कर लोगों की सौन्दर्यानुभूति को तुष्ट करना अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। इन्हें ही Fuutrist सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। इटली में इस सम्प्रदाय ने पहले अपना संगठन किया और इस आंदोलन के प्रवर्तक सिगनोर मेरीनेट्टी की प्रबल और रसीली लेखनी का सहारा पाकर यह आंदोलन पर्याप्त रूप से चमक उठा तथा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। इस 'डाइनामिक कंपोजीशन ऑफ मैटर' अर्थात् वस्तु के गत्यात्मक रूप के विश्लेषण का स्पष्टीकरण करने के लिए Giacoms Balla की प्रसिद्ध चित्रकारी 'ए लेडी एंड हर डॉग' को आप देखें तो इसमें आप द्रुत फोटोग्राफी (rapid motion photography) कला का सम्मिश्रण पायेंगे। असंख्य पंजे और मूँछे इस रूप में रखी गई हैं कि कुत्ते की द्रुतगामिता अंकित हो जाती है और जूतों का जमघट कुत्ते के स्वामी के चलते हुए पैरों का आभास देता है। कहने का अर्थ यह है कि और सब चीजें नीचे दब जाती हैं और वही गति, हलचल हमारे सामने आ जाती है। हाँ, तो हमें कहना यहाँ इतना ही है कि जैनेन्द्र के उपन्यास जीवन के इसी गति-निर्देश की ओर, प्राचीनकाल के अन्य साहित्यिकों की स्थिरता के प्रति विद्रोह की ओर, जीवन को सतत प्रवहमान रूप में समझने की ओर हिन्दी-साहित्य में नूतन प्रयत्न हैं और इन पर इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। यदि ये उपन्यास जीवन के 'यह कर—वह कर, इधर-उधर' का एक हलका स्वरूप अंकित कर सके हैं तो वे हमारी सहानुभूति के पात्र हैं।

साहित्य का ध्येय चाहे और कुछ भले ही न हो, पर जीवन को हमारे सामने ला उपस्थित करना, सब बातों को जीवन की राह से दिखलाना तथा जीवन के सच्चे 'पैटर्न' का प्रतिनिधित्व करना तो है ही। उपन्यासों का महत्व भी इन्हीं आदर्शों की सच्चाई और सहृदयता के साथ अभिव्यक्ति की सामर्थ्य में निहित है। जैनेन्द्र की रचनाओं का एक हलका अध्ययन भी हमारे हृदय पर इस बात की छाप बैठाये बिना नहीं रहता कि हम एक भौतिक, विचार-प्रवण और आधुनिक युग की वेदनाओं को अपने हृदय में पालनेवाले कलाकार के विद्युत्-स्पर्श में आये हैं। इनके बातचीत करने का ढंग, कथा कहने का ढंग, जीवन की समस्याओं पर विचार करने का ढंग, यहाँ तक कि शब्दों के प्रयोग करने का ढंग भी एकदम निराला है। बातें सरल हैं, सीधी हैं पर उन्हीं बातों के सिलसिले में एक-आध ऐसे शब्द आ जाते हैं जो हमारे मानसपट पर एक क्षण चमककर जीवन की गहराई की झलक दिखलाकर आश्चर्यान्वित कर देते

हैं। अन्यत्र हम इस पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ एक ही उदाहरण काफी होगा। 'परख' में कट्टो, गरिमा और गाँव की अन्य सखियाँ आपस में हाहा-हीही और उछल-कूद कर रही हैं; सबके हृदय में चुहल है, उत्साह है, उस समय कीसमाँ की बात ही क्या है? यह ऐसा समय है जबकि लोगों के दिल के साथ लेखनी भी हाथ से बाहर हो जाती है और उस समय उनकी लेखनी से जो वर्णन का निर्भर प्रवाहित होता है उसके सामने देव और मतिराम भी पानी भरने लगते हैं। ऐसे-ऐसे स्थलों पर आत्म-संयम से काम लेना लेखक के लिए कठिन हो जाता है। पर जैनेन्द्र का उपन्यासकार इस परीक्षा में पूर्ण रूप से सच्चा उतरता है। वह केवल इतना ही कहेगा कि "सहेलियों का काम हम नहीं देखेंगे। क्योंकि क्या ठीक, इस उधम-दंगे में धोती कहीं बहक जाय, पल्ला कहाँ हो जाए और हाथ न जाने कहाँ-कहाँ पड़े। इसलिए सभ्य हो तो आँख मीचकर लौट पड़ो। कहीं पता चल जाय और आइन्दा वैसा ऊधम ही बन्द हो जाय—तब तो दुनिया की भारी क्षति होगी—हम सच कहते हैं।" यह वर्णन कितना सादा पर साथ-ही-साथ कितना पुर-असर है, इस बात की विवेचना विदग्ध और सहृदय पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। आप सच मानें, यदि संजीवनी-भाष्यकार स्व० पद्मसिंह शर्मा की ये पंक्तियाँ मिलतीं, तो वे कहे बिना नहीं रहते कि—'वाह भाई जैनेन्द्र, खूब कहा! साँप भी मरा और लाठी भी नहीं टूटी।'

इस सादगी पर कौन न मर जाय या खुदा!
लड़ते हैं, मगर हाथ में तलवार भी नहीं।

साहित्य में दो लेखकों को लेकर यह दिखलाने की चेष्टा करना, कि एक दूसरे से श्रेष्ठ है, से अधिक महत्वपूर्ण व्यर्थ की माथापच्ची करनी है। इससे रचना के मर्म को, उसकी गहराई को समझने में तो कुछ सहायता मिलती नहीं, बल्कि द्वेष का ही प्रचार होता है, समस्या स्पष्ट न होकर और भी धुँधली हो जाती है। संसार सतत प्रवाहशील है, हम निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं, दुनिया का प्रत्येक अणु-परमाणु, प्रतिक्षण बदलता रहता है। उसी तरह साहित्य भी परिवर्तन के नियम के शिकंजे से, चक्र से मुक्त नहीं। उसमें भी परिवर्तन होता रहता है। यही परिवर्तन जीवन का मूल है अतएव साहित्य का भी। जहाँ यह परिवर्तन रुका, कि 'प्रसाद' जी के शब्दों में, महा-प्रलय हुआ। हिन्दी उपन्यासों की धारा जैनेन्द्रजी तक आकर एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित होती है। यह परिवर्तन, यह क्रान्ति, यह विद्रोह जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

प्रेमचन्द्र-सम्प्रदाय के उपन्यासों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन उनसे escape कर गया है। आलोचना के क्षेत्र में जीवन, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, वास्तविकता इत्यादि शब्द हैं जिनकी अस्पष्टता को लेकर बड़ी गड़बड़ी मची रहती है। पर, शायद साहित्य में—साहित्य में ही क्यों—? जीवन में कहीं भी इस अस्पष्टता से मुक्ति भी तो नहीं ? किसी भी गम्भीर विषय को लीजिये, या किसी विषय पर जरा गम्भीरता से विचार कीजिए, आपको जाते-जाते एक सीमा मिलती है जहां सारी बातें अस्पष्ट-सी हैं। हम उन्हें समझ नहीं सकते। हाँ, चाहें तो अपने ही अन्दर, अपने मन की गहराई में, समाधान भले ही प्राप्त कर लें। हम साधारण उपन्यासों में थोड़ी देर के लिए मनोरंजन प्राप्त कर लें, उनमें पात्रों के ताने-बाने में उलझकर जीवन की एक झलक भले ही देख लें, पर वह चीज, जो हम पाना चहाते हैं, जीवन का सच्चा रूप, उसके साथ—Immediacy of contact, हमारी पकड़ में आते-आते भी रह जाती है है। न जाने क्यों यह भावना होने लगती है कि क्या उपन्यास में जीवन का जो स्वरूप हमारे सामने रखा गया है वह वास्तव में वैसा ही है ? उपन्यासकार जिस एक नियम का, एक निश्चित पद्धति का, चरित्र-चित्रण का, प्लाट का, क्लाइमैक्स का अनुसरण करता-सा दीखता है, क्या जीवन की सिद्धि उसी रास्ते होती है ? क्या हमारे सामने विशुद्ध जीवन को छोड़कर एक नकली जीवन, दूसरों से उधार लिया हुआ जीवन नहीं दिखलाया गया है ?

ठौर-ठिकाना! वे आते रहते हैं और मस्तिष्क के दरवाजे को खटखटाते रहते हैं।

हाँ, यह बात दूसरी है कि हम सभ्य हैं, सुरक्षित हैं, हमने 'हितोपदेश' की वृद्ध जरद्गव की कथा पढ़ी है और हमें याद है—'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देय न कस्यचित्।' अतएव हम उन्हें दुतकार दें। पर जीवन के प्रवाह को भला कोई रोक सकता है? हम इस तरह का साफ-सुथरा जीवन नहीं चाहते। हमें तो वह विशुद्ध और वास्तविक जीवन संतोपप्रद हो सकता है। वर्जीनिया ऊल्फ़ ने लिखा है: 'Life is not a series of gig lamps symmetrically arranged; life is a luminous halo, a semitransparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end. Is it not the task of the novelist to convey the varying, this unknown, this uncircumscribed spirit, whatever aberration or complexity it may display, with as little mixture of the alien and external as possible?" अर्थात्, "जीवन एक ऐसे राजपथ की तरह तो है नहीं कि जहाँ दोनों ओर प्रकाश देनेवाली बत्तियाँ सजाकर लगाई गई हों। जबसे हमारी चेतना का विकास हुआ, हम तो यही पाते हैं कि जीवन आदि से अंत तक एक झिलमिलाती भीनी चादर से आच्छादित-सा है। क्या उपन्यासकार का यह कर्तव्य नहीं कि वह इस पकड़ में न आने वाली, अव्यक्त और स्वतंत्र गति को अपने विशुद्ध रूप में, यथाशक्य किसी वाह्य पदार्थ के बिना लाये ही अभिव्यक्त करे, चाहे उसमें कितनी ही रहस्यपूर्णता और पेचीदगियाँ क्यों न हों?"

यदि हम अपने मस्तिष्क को पुस्तकों तथा आलोचकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की पकड़ से कुछ मुक्त कर, स्वतंत्रता की वायु में साँस लेकर, थोड़ा विचार करें तो ऊपर के सिद्धान्तों की सत्यता का पता चल सकता है। एक बार, सचमुच, जीवन-प्रवाह की नालियों—वे स्फटिक या संगमरमर की ही बनी क्यों न हों—से प्रवाहित होते रहनेवाली आदत से मुक्ति पानी होगी, जीवन में स्वच्छ वायु के प्रवेश के लिए हृदय और मस्तिष्क के कपाटों को खोलना होगा। तभी हममें वह शक्ति आयेगी कि हम जीवन में सतत प्रवाहित होनेवाले आनंद-स्रोत का उपभोग कर सकें। भारतीय चित्रकला के इतिहास के पाठक से यह बात छिपी नहीं है कि अजंता इत्यादि की कला का ध्यान सदा वास्तविकता की ओर उन्मुख रहा। वहाँ के जितने चित्र हैं उनकी विशेपता क्या है? कौन-सी वस्तु है जो आज भी कलाप्रेमियों की श्रद्धा को हठात् अपनी ओर आकर्पित कर लेती है? हमारे मस्तिप्क में जो एक सुन्दरता का ढाँचा तैयार है, अर्थात् दैनिक जीवन में जिस वस्तु को, मनुष्य को या पशु को सुन्दर कहते हैं, ठीक उसी

तरह की वस्तु, मनुष्य या पशु का चित्र हमारे सामने, अजन्ता की गुफाओं में मिलता है ? नहीं, वहाँ किसी वाह्य पदार्थ का अनुकरण करने, संसार में सुन्दर कहकर पुकारी जानेवाली वस्तुओं के समान सुडौल, आनुपातिक ढंग से संगठित चित्र उपस्थित करने का प्रयास बिल्कुल दिखलाई नहीं पड़ता। अजंता के भृङ्ग का, पुष्प का, स्त्री का चित्र ठीक वैसा ही नहीं जैसा हम रोज के जीवन में देखने के अभ्यस्त हैं; उनमें कोई कनवेंशनल अनुपात का क्रम नहीं है। मानो कलाकार अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में स्वतंत्र हो, किसी बन्धन से बँधा न हो, अपनी अंतःप्रेरणा, भावना और आवेग को ही कागज पर उतार कर रख देने के सिवाय उसकी कोई इति-कर्तव्यता हो ही नहीं। वे चित्र हमारे मानस-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व भले ही न करते हों—और मैं यह कहने का भी साहस कर सकता हूँ कि अदीक्षित मनुष्य उन चित्रों के महत्त्व को शायद ही स्वीकार करें—पर, क्या वे एक सहृदय कला-मर्मज्ञ को अपने भावों के उन्माद में डुवाये विना रह सकती है ? हृदय की गहराई का जहाँ तक चित्र कला से सम्वन्ध है, वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि भारत की प्रतिभा ने इस क्षेत्र में अपनी स्वतंत्रता की पूरी-पूरी रक्षा की है और आजादी के साथ अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति भी की है। एक वात मैं कहूँ—लेकिन डरते-डरते कह रहा हूँ—कि भारतवर्ष के सच्चे और वास्तविक आत्म-स्वरूप की उपलब्धि यहीं पर अधिक रूप में हुई है, शायद उससे भी अधिक, जितनी साहित्य के क्षेत्र में हुई हो।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यास—केवल प्रारम्भिक दो उपन्यसों 'परख' और 'सुनीता' को छोड़कर—आत्मकथात्मक पद्धति में लिखे गये हैं। इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि ये उत्पाद्य कथावस्तु नहीं है, लेखक की कल्पना की उपज नहीं है, अपितु अकस्मात् किसी व्यक्ति की डायरी उपन्यासकार के हाथ लग गई है और वह उसी को थोड़ा संपादित कर पाठकों के पठनार्थ प्रकाशित कर रहा है। यहाँ दो वातों की ओर मेरा ध्यान जा रहा है। प्रथमतः तो यह कि उपन्यासकार ने आत्मकथात्मक शैली को क्यों अपनाया और द्वितीयतः यह कि अपने उपन्यासों की मौलिक कथा को, दूसरों की प्राप्त डायरी के रूप में ही प्रख्यात कर लोगों के सामने क्यों उपस्थित किया ? प्रेमचन्द को आलोचकों ने हिन्दी-कथा-साहित्य का 'ब्यूटी-एक्सपर्ट' कहा ही है। जब उन्होंने एक सुसंगठित कथावस्तु का आदर्श उपस्थित कर ही दिया था तो नूतन, अज्ञात-कुलशील मार्ग पर अग्रसर होने की क्या जरूरत थी ? यदि जैनेन्द्र से जाकर प्रश्न किया जाय, उनसे साक्षात् उत्तर मांगा जाय तो वे अपनी शैली में कुछ उत्तर दे ही